CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १८, अंक २
मार्च १९९७ माघ - फाल्गुन २०५२

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

संपादक मण्डल :
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद,
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलहकार संपादक मंडल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

- प्रकाशनार्थ लेखसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

- सदस्यता शुल्क :

•आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
•वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
•एक प्रतिका मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किस्तों में भेजा जा सकता है।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हो तो, पुनः भेजा जाएगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

क्या दर्शन की अपनी कोई विशेष विधा होती है ? क्या दर्शन का कोई अपना अभ्यासक्षेत्र होता है ? क्या दर्शन का कोई अपना विषय होता है ? दर्शन के बारे में अनेकों मौलिक प्रश्न उठते आये हैं और उनपर विचार भी होता आया है। फिर भी कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं जब ये प्रश्न नये सिरे से उठाने की जरूरत महसूस होती है। किसी एक भूमिका के अनुसार किसी भी चीज़ का दर्शन होता है या किसी भी चीज के बारे में दार्शनिक रूख से सोचा जा सकता है। फिर भी हरेक युग की अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। उन के अनुसार दर्शन किसी परिधि में फलता फूलता है। इसे दर्शन की मर्यादा मानने के बजाय विशेषता मानना अधिक उचित रहेगा। क्योंकि हरेक युग की अपनी माँग होती है और उसे पूरी करने की जिम्मेदारी दर्शन पर होती है।

एक ऐसा समय था जब चिंतन में विज्ञान और दर्शन के बीच विभाजन नहीं हुआ करता था। एक ऐसा भी समय था कि जिस में दर्शन अपनी मदद के हेतु किसी अन्य क्षेत्रों से कल्पनाएँ स्वीकार करता था। लेकिन क्या हम ऐसा निश्चित रूप से कह पाते हैं कि कोई कल्पना दर्शन के क्षेत्र की नहीं मानी जा सकती ? जब हम मानते हैं कि बुद्धिजन्य कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों की प्रणाली दर्शन मे क्षेत्र का उचित विषय है तब हम श्रद्धाजन्य तथा विश्वासजन्य कल्पनाओं तथा सिद्धातों को क्या स्थान देंगे ? पाश्चिमात्य दर्शन में एक ऐसी कल्पना आती है जिसे spirit या spiritual के नाम से जाना जाता है। इस कल्पना का दर्शनशास्त्र में क्या स्थान है ? जिस की सत्ता स्वीकृत है वह मूर्तरूप द्रव्य है, ठोस भी है। लेकिन एक ऐसी भी प्रणाली विकसित की जाती है जिस में सत्ता अमूर्त्त है। इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए spirit की कल्पना का आधार लिया गया। लेकिन spirit की कल्पना का उद्‌भव श्रद्धा या विश्वास से प्रसूत प्रणाली में होता है। उसकी स्वीकृति का आधार बौद्धिक वस्तुनिष्ठ निकष न होकर श्रद्धारूप या विश्वासरूप मान्यता ही होता है। यही कारण है कि उसे यथा योग्य स्थान हासिल करने के लिए दर्शनशास्त्र का अवलंब करना स्वाभाविक नहीं बन पाता।

तो फिर क्या ऐसी कल्पना को दर्शन बाह्य घोषित कर देना उचित होगा? एक भूमिका ऐसी भी संभव है जिस की तहत कोई भी कल्पना दर्शन बाह्य हो नहीं सकती। ऐसी हालत में बुद्धिजन्य तथा विश्वासजन्य कल्पनाओं की व्यवस्था की समस्या अधिक गहन बन जाएगी। लेकिन उन में मौलिक भेद बता कर और उन्हें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विरोधहीन बना कर एक प्रणाली में भी प्रस्थापित किया जा सकता है। इस का एक अर्थ यह होगा कि कोई भी बुद्धिनिष्ठ विचार विश्वासज़न्य spirit की कल्पना को स्वीकृत करने हुए भी अपनी बुद्धिनिष्ठा को अबाधित रख सकता है। इस में व्यक्तित्व की भग्नता की प्रतीति नहीं है बल्कि सहिष्णुता का प्रत्यय है। अर्थात् इस विधा में कोई विचारक विश्वासजन्य कल्पनाओं के प्रति केवल मौन भी रख सकता है जिस में उस की बुद्धिनिष्ठता के व्रत का भंग हो जातें की कोई आशंका न हो।

आज हालात ऐसे बन चुके हैं कि कोई चाहे या न चाहे, विश्वासजन्य कल्पनाओं के प्रति विचार व्यक्त करना आवश्यक बन चुका है। एक तरह की विज्ञाननिष्ठा बुद्धि को तीखा बनाने की कोशिश में एकांगी बना देती है। आगे चलकर उसे अपनी मर्यादाओं का पता भी लगानां है। और जब यह पता लग जाएगा तब उसे अपने को पूरा करने के लिए अपने क्षेत्र को विस्तृत करना पडेगा और अपने क्षेत्र के परे जाकर भी कुछ साधन जुटाने पडेंगे। इस का कारण यह है कि सभी चिंतन, सभी विचार, सभी कल्पनाएँ मानव सृष्ट हैं और मानवी जीवन से उन का सरोकार है। मनुष्य को हम अंगो में तोड नहीं सकते, चाहे उसके भिन्न अंगों को भिन्न कार्यों के लिए स्वीकार भी क्यों न लिया है। अगर मनुष्य एक है, उस की अखंडता बनाए रखना हमारा कर्तव्य है तो निष्ठा को क्रूर बनाने में पौरुष नहीं है। निष्ठा कठोर होनी चाहिए इस का मतलब क्रूरता को अपनाना नहीं है। शायद यही भूल सदियों से मनुष्य करना रहा है। निष्ठा को अवश्य ही अटूट होना है। पर ऐसे अटूट नहीं जो अपने से भिन्न को तोड-मरोड डालने पर ही तुल जाए। अगर कोई कल्पना मूलतः दार्शनिक न होकर भी दर्शन में किसी न किसी तरह से स्थान प्राप्त कर ले तो उसे के प्रति जिहाद की भूमिका लेना दार्शनिकता का रूख नहीं होगा। परीक्षण, चिकित्सा, मीमांसा इन बातों से जिहाद भी अलग है। और इस बात को भी सम्हालना है कि जो कल्पनाएँ मूलतः दार्शनिक नहीं हैं, उन्हें अपनाकर दर्शन को प्रदूषित होने नहीं देना है। सहिष्णुता में संतुलन है और इसी संतुलन के कारण दार्शनिकता अपने उचित रूप में विकसित हो सकती है। सहिष्णुता का अर्थ कमजोरी लगाना भी बडी भारी भूल है। हम हमेशा अपनी भूलों की कीमत चुकाते आये हैं। पर वादा भी करना है, अपने से ही, कि आगे चलकर भूल नहीं कर बैठेंगे, ताकि उस की कीमत चुकाने के बजाय कुछ सृजनशील व्यवहार में अपने को व्यस्त रखें। वादे निभाने की बात तो दूर है, वादे करने का निर्धार तो होना चाहिए। क्यों न हम इस निर्धार के बारे में सोचें और उस पर अमल करनें के प्रयास में जुटे रहें ?

सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विटगेन्स्टीन के दर्शन में दर्शन का स्वरूप, कुछ अनुलग्नक समस्याएँ और समाहार

प्रस्तुत लेख विटगेन्स्टीन के दर्शन में विवेचित दर्शन का स्वरूप एवं कुछ अनुलग्नक समस्याओं के समाहार प्रस्तुतीकरण के सीमित उद्देश्य से प्रेरित है। उद्देश्य सीमित है, परन्तु विषय-वस्तु की गहनता निर्विवाद है। विटगेन्स्टीन के दर्शन के आलोक में यह विशेष महत्त्व का विषय बन जाता है, क्योंकि इन्होंने दर्शन विषयक जो विचार व्यक्त किये हैं, उसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कहना अभी तक संभव नहीं हो पाया। यह सचमुच अति जिज्ञासा का प्रश्न है कि दर्शन जैसे मूलभूत अवधारणा को लेकर इनके दर्शन में इतना विवाद क्यों हो रहा है। इस लेख में इस बात की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि यह विटगेन्स्टीन के दर्शन संबंधी विचारों का सविस्तर मूल्यांकन प्रस्तुत करे। जब तक मूल विषय स्पष्ट नहीं हो जाता, उसके मूल्याकंन प्रस्तुतीकरण का प्रश्न ही नहीं होता।

विटगेन्स्टीन का दर्शन प्रतिभा की अद्‌भुत रचना है। दर्शन के सम्बन्ध में इन्हों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वह उनके पूर्ववर्ती और समयुगीन विचारकों से महत्त्वपूर्ण रूप में भिन्न हैं। विटगेन्स्टीन मानते हैं कि दार्शनिक किसी विचार-समूह का सदस्य नहीं होता। अपने इस कथन के अनुरूप ही ये आजीवन अपने आपको किसी विशेष दार्शनिक-सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं कर पाये। इन वैचारिक विविधता का साक्ष्य यह है कि इनका नाम एक साथ ही अणुवाद, तार्किक भाववाद, केम्ब्रिज दर्शन, चिकित्साशास्त्र और विश्लेषण दर्शन से जुडा हुआ है। विटगेन्स्टीन की किसी दर्शन विशेष के प्रति आसक्ति नहीं। इन्होंने स्वयं अपने ही विचारों को अपनी उत्साहपूर्ण आलोचना का विषय बनाकर एक वैचारिक निष्ठा का परिचय दिया है, जो अतुलनीय है।

विटगेन्स्टीन का दर्शन दो विचारधाराओं में विभक्त है। इन दो विचारधाराओं में मौलिक भिन्नता है। एक विचारधारा की अभिव्यक्ति ट्रैक्टेटस में हुई है और दूसरे की फिलौसौफिकल इन्व्हेस्टिगेशन में। ट्रैक्टेटस की रचना पहले हुई है, इसलिए इसमें व्यक्त विचारों को पूर्ववर्ती विटगेन्स्टीन कहेंगे। विटगेन्स्टीन के दर्शन की पूर्ववर्ती अवस्था 'रसेल' तथा 'फ्रीगे' के चिन्तन से अति प्रभावित है। इन्व्हेस्टिगेशन का लेखन बाद में हुआ है। इसलिए इसमें व्यक्त विचारों को परवर्ती विटगेन्स्टीन कहेंगे। इन्व्हेस्टिगेशन में ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की ही आलोचना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। ट्रैक्टेटस की रचना से विटगेन्स्टीन को काफी लोकप्रियता मिली और इसमें व्यक्त विचारों ने दर्शन के इतिहास को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसके बावजूद भी ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की निष्ठापूर्ण आलोचना के प्रति विटगेन्स्टीन की गंभीरता सचमुच आश्चर्यजनक है। प्रश्न यह है कि विटगेन्स्टीन का दर्शन विषयक किस विचार को सही माना जाय, ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचार को या इन्व्हेस्टिगेशन में व्यक्त विचार को ? ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन यहाँ तक कह डालते हैं कि दर्शन विषयक प्रत्येक समस्याओं का समाधान कर दिया गया है और पुनः कुछ कहना शेष नहीं। किन्तु, जब ट्रैक्टेटस मूल रूप से ही अस्वीकृत हो चुका है तो फिर नये रूप से दार्शनिक चिन्तन के लिए बाध्य होना पडता है। इसी सामान्य प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए विटगेन्स्टीन इन्व्हेस्टिगेशन में दर्शन संबंधी कुछ नये विचार प्रस्तुत करते हैं, जिसका आधार ट्रैक्टेटस में व्यक्त दर्शन संबंधी विचारों की आलोचना है। अतः जब विटगेन्स्टीन के दर्शन संबंधी विचारों की चर्चा होती है, तो इस तथ्य को विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए कि इन्होंने दर्शन संबंधी दो भिन्न विचार व्यक्त किये हैं, वास्तव में, यही उनके दर्शन में विवाद - केन्द्र है। विटगेन्स्टीन के दर्शन विषयक विचारों पर चर्चा के आलोक में इस बात का निर्णय करना सचमुच कठीन है कि उनके पूर्ववर्ती विचारों को स्वीकार किया जाय या परवर्ती विचारों को। वास्तव में, दर्शन संबंधी विटगेन्स्टीन के विचार सदोष हैं और इनमें से किसी को भी अंतिम रूप में स्वीकार कर लेना विटगेन्स्टीन के दार्शनिक मनोवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ विचारकोंने उनके परवर्ती चिन्तन को ही सही मानते हुए कुछ निश्चित स्थापनाएँ स्थापित करने की चेष्टा की है। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनके लिए विटगेन्स्टीन के परवर्ती चिन्तन की आलोचना प्रिय विषय रहा है। अतः मैं इस मत का पोषक हूँ कि विटगेन्स्टीन के दर्शन पर विचार करते हुए उनके पूर्ववर्ती विचारों का पारस्परिक अवमूल्यांकन या अधिमूल्यांकन की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। इस प्रकार के प्रवृत्ति के आधार पर स्थापित कोई भी निष्कर्ष एकांगी होगा। इस लेख में और प्रयास किया जायेगा कि दर्शन के सम्बन्ध में इनके व्यक्त विचारों में कोई आधारभूत उभयनिष्ठ बिन्दु की स्थापना की जाय जो इनके समस्त दार्शनिक विचारों के अनुरूप हो।

ट्रैक्टेटस में दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त विचार

ट्रैक्टेटस में दर्शन सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए विटगेन्स्टीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहते हैं कि दर्शन का मुख्य कार्य प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण है ।[१] दर्शन संबंधी यह विचार परम्परागत दर्शन से भिन्न हैं । परम्परागत दर्शन में सत्य के स्वरूप को दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं । ये उन सत्ताओं के सम्बन्ध में उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, जो वैज्ञानिक तथ्यों से भिन्न हैं । किन्तु इस दृष्टिकोण से परम्परागत दार्शनिक प्रणाली अनेक दोषों से ग्रस्त हो जाती है, क्योंकि यदि वैज्ञानिक किसी तथ्य संबंध में कुछ कहता है तो इसके उपरान्त उस तथ्य के सम्बन्ध में दर्शन के पास कुछ नवीन तथ्य प्रस्तुत करने के लिए नहीं रह जाता । दार्शनिक का कार्य मात्र यह है कि वह विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे । दर्शन का मुख्य कार्य आलोचना द्वारा भाषा का संशोधन है । ट्रैक्टेटस की भूमिका में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए विटगेन्स्टीन कहते हैं, 'इस पुस्तक का उद्देश्य विचार की सीमा का रेखांकन है । हम इसे अभिव्यंजना की सीमा का रेखंकन भी कह सकते हैं, क्योंकि विचार की सीमा को रेखांकित करने के लिए हमें सीमा के दोनों विचारणीय पक्षों की खोज करनी होगी । उदाहरणार्थ हमें यह विचार करने में सक्षम होना चाहिए, जिस पर विचार नहीं किया जा सकता । इसलिए भाषा मात्र में ही सीमा का रेखांकन किया जा सकता है और जो इस सीमा के दूसरी ओर अवस्थित है वे पूर्णतः अर्थहीन हैं '।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों से पृथक्करण की कसौटी प्रदान करता है। ऐसा इसलिए भी आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि भाषा के तर्क को समझना मानव के लिए संभव नहीं होता । विटगेन्स्टीन के शब्दों में, 'भाषा विचार को छिपाती है, जिस प्रकार बाह्य आकार को देखकर विचार के आकार का अनुमान क़िया जाना संभव नहीं, क्योंकि परिधान का बाह्य आकार शरीर के अभिज्ञान के लिए नहीं बल्कि भिन्न उद्देश्य के लिए बनाया गया है '।[३] भाषा का यह छद्म रूप भाषा विषयक कुछ भ्रामक धारणाओं को उत्पन्न करता है । दर्शन का उद्देश्य दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं का समाधान कर विचारों का स्पष्टीकरण है । विटगेन्स्टीन के शब्दों में, 'दर्शन का लक्ष्य विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण है । दर्शन भिन्न-भिन्न सिद्धातों का अंग नहीं, बल्कि एक सक्रियता है एक दार्शनिक कृति में मुख्य रूप से स्पष्टीकरण अन्तर्लीन होता है ...दर्शन के अभाव में विचार अस्पष्ट होते हैं । दर्शन का कार्य इन्हें स्पष्ट करते हुए सीमांकित करना है '।[४]दर्शन सम्बन्धी कुछ इसी प्रकार के विचार 'रसेल' ने भी व्यक्त किये हैं । रसेल के अनुसार दर्शन की विषयवस्तु भाषा है और दर्शन की प्रविधि विश्लेषण है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विटगेन्स्टीन सहज, दैनंदिन की भाषा पर बल देते हैं। सहज प्रयोग में आनेवाली भाषा हमें दिग्भ्रमित नहीं कर सकती, अपितु यथार्थसूचक होती है। हम दिग्भ्रमित तब होते हैं, जब हम सहज प्रयोग में आनेवाले वाक्यों को कृत्रिम तात्त्विक अर्थों से आच्छादित कर देते हैं। दर्शन का यह कार्य नहीं कि वह साधारण प्रयुक्त होने वाली भाषा को तोड-मोड करे, बल्कि यह है कि वह शब्दों को उनके तात्त्विक अर्थोंसे विमुक्त कर उसे प्रतिदिन के व्यवहार में समझे जाने वाले अर्थों में प्रतिस्थापित करे। तत्त्वमीमांसक ज्ञान, सत्ता, वस्तु, नाम आदि शब्दों के अनेक अर्थ लगाते हैं, जिनसे हम व्यामोहित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें प्रश्न करना चाहिए कि क्या जो अर्थ इन शब्दों के लगाये जाते हैं, वे ही अर्थ उनके प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाली भाषा में है या नहीं ? यदि हम यह जानने का प्रयास करें कि व्यावहारिक भाषा में शब्दों का अर्थ क्या होता है, तो हम अनेक भ्रांतियों से बच सकते हैं। अतः विटगेन्स्टीन हमें भाषा के कार्य का अवलोकन की अनुदेशना देते हैं।

इस बिन्दु पर विटगेन्स्टीन इस बात की आवश्यकता महसूस करते हैं कि दैनंदिन भाषा को आदर्श भाषा के रूप में विश्लेषित किया जाय, जहाँ प्रतिज्ञप्ति और तथ्य ते बीच सीधा सम्बन्ध देखने को मिलेगा। विटगेन्स्टीन के शब्दों में, एक प्रतिज्ञप्ति में निश्चय ही उतने विश्लेषणीय अंग होने चाहिए, जितने परिस्थिति में होंगे जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है'।[५] एक आदर्श भाषा, जिसे विटगेन्स्टीन 'संकेत भाषा' (साइन -लैंगवेजं) कहना अधिक पसन्द करते हैं, सत्य प्रतिज्ञप्तियों से निर्मित होता है, जिसका पुनर्विश्लेषण संभव नहीं। सरल प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थिति (स्टेट-ऑफ़-अफेयरस) पर बल देता है। एक सरल प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थिति से अनुरूपता के कारण ही सत्य या मिथ्या होता है। विटगेन्स्टीन ऐसा मानते हैं कि वस्तु-स्थिति के अस्तित्व या अनस्तित्व से प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या मिथ्यता मात्र ही निर्धारित नहीं होती बल्कि उसकी अर्थपूर्णता और अर्थहीनता भी निर्धारित होती है। विटगेन्स्टीन के अनुसार 'एक प्रतिज्ञप्ति का अर्थ वस्तु स्थिति के अस्तित्व और अनस्तित्व के साथ उसके सहमति और असहमति पर निर्भर होता है'।[६] यहाँ प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे मान लें कि प्रतिज्ञप्ति वस्तु स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। विटगेन्स्टीन के अनुसार एक प्रतिज्ञप्ति एक तथ्य को चित्रित करने में इसलिए सफल होता है क्योंकि प्रतिज्ञप्ति की संरचना और तथ्य की संरचना दोनों समान हैं। प्रतिज्ञप्ति संरचना और तथ्य की संरचना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परस्पर पूरक हैं। तथ्य की संरचना उस वाक्य में प्रतिबिम्बित होती है, जिसके द्वारा हम उसका वर्णन करते हैं। जिस प्रकार चित्र में उन परिस्थितियों की संरचना विद्यमान रहती है जिन्हें वह चित्रित करता है, उसी तरह प्रतिज्ञप्ति में भी उन परिस्थितियों की संभावना दर्शित होती है, जिन्हें सूचित करता है। इस प्रकार प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण हमें प्राथमिक प्रस्थापनाओं तक ले जाता है, जो नामों के तत्कालीन संयोग से बनते हैं। किसी प्रस्थापना के प्राथमिक होने की पहचान यह है कि उसका निषेध करने वाली कोई प्राथमिक प्रस्थापना नहीं होती। सरलतम प्रकार की प्रस्थापना अर्थात आरंभिक प्रतिज्ञप्ति किसी विद्यमान स्थिति के अस्तित्व का सूचक होती है। विटगेन्स्टीन मानते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति तथ्य को इसलिए प्रतिबिम्बित कर पाती है कि प्रतिज्ञप्ति की संरचना भी तथ्य की संरचना जैसी होती है। उनका मानना है कि 'एक नाम एक वस्तु का और दूसरा नाम दूसरी वस्तु का सूचक होता है और वे इस प्रकार संबंधित होती हैं कि उनकी समग्रता सजीव चित्र की तरह पारमाणविक तथ्य को प्रस्तुत करती है ... प्रतिज्ञप्ति में उतनी ही सुस्पष्ट वस्तुएँ होनी चाहिए जितने कि उसके द्वारा प्रस्तुत विद्यमान स्थिति में होती हैं '।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन यह मानकर चलते हैं कि दर्शन का एकमात्र उद्देश्य साधारण भाषा का इस प्रकार विश्लेषण करना है ताकि हम एक आदर्श भाषा तक पहुंच सकें।

इन्व्हेस्टिगेशन में दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त विचार

इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन, ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों का खंडन करते हैं। इन्व्हेस्टिगेशन की भूमिका में वे कहते हैं, 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ट्रैक्टेटस में चर्चित समस्याओं को उसी अंश में पुनर्चर्चित करना होगा क्योंकि मेरे नवीन विचारों को पुराने विचारों के विपरीत और विरोधी पृष्ठभूमि के आलोक में ही सही परीप्रेक्ष्य में अवलोकित किया जा सकता है'।[८] ट्रैक्टेटस की तरह इन्व्हेस्टिगेशन में भी विटेगेन्स्टीन कहते हैं कि भाषा की समालोचना दर्शन की एक मात्र विषयवस्तु है। पर स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि ट्रैक्टेटस और इन्व्हेस्टिगेशन में व्यक्त उनके विचारों में दो महत्त्वपूर्ण और परस्प्रर संबंधित दृष्टियों से अन्तर है। प्रथम ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन ने माना है कि विश्लेषण दर्शन की एकमात्र पद्धति है और दूसरी भाषा का एकमात्र कार्य यथार्थ का प्रतिबिम्बन है। इन दो विचारों से संबंधित एक विचार यह भी है कि परमाणविक प्रस्थापनाओं पर आधारित विश्लेषणात्मक भाषा परमाणविक तथ्यों का प्रतिबिम्बन करती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इन्व्हेस्टिगेशन में ट्रैक्टेटस में वर्णित ये दो विचार ही विटगेन्स्टीन के आलोचना के मुख्य केन्द्र हैं। परवर्ती विटगेन्स्टीन के अनुसार दर्शन की पद्धति विश्लेषण नहीं बल्कि शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का वर्णन है। अपने इस नये सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए परवर्ती विटगेन्स्टीन कहते हैं कि 'दर्शन शास्त्र भाषा के वास्तविक प्रयोगों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। अंततः यह इसका वर्णन नहीं कर सकता है। इसकी वजह है कि यह उसे एक आधार भी नहीं प्रदान कर सकता। यह हर वस्तु को यथावत बने रहने देता है'।[९] विटगेन्स्टीन यह मानते हैं कि हम शब्दों के अर्थों का वर्णन दार्शनिक समस्याएं हल करने के लिए नहीं करते। इनके विचार में, दर्शन में व्याख्या और सिद्धान्त निरूपण को त्याग कर वर्णन को स्वीकार किया जाना चाहिए। दर्शन को भाषा तक सीमित कर परवर्ती विटगेन्स्टीन विश्व बोध के लिए दर्शन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं। जहाँ ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन ने एक आदर्श भाषा का एक रस और अमूर्त्त प्रारूप प्रस्तुत किया, वहीं इन्व्हेस्टिगेशन में उन्होंने यह बतलाया है कि भाषा तरह-तरह से कार्य करती है। ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की आलोचना करते हुए विटगेन्स्टीन कहते हैं, चिन्तन एक हाला से मंडित होता है। उसका मूल तर्क एक व्यवस्था, वास्तव में विश्व की प्रागनुभविक व्यवस्था को प्रस्तुत करता है, जो शब्द और चिन्तन, दोनों में सामान्य होनी चाहिए। लेकिन यह प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था एकदम सरल होगी। यह सभी अनुभवों से पूर्ण होती है, सभी अनुभवों से संचालित होती है। कोई भी अनुभवाश्रित अनिश्चितता इसे प्रभावित नहीं करती, बल्कि इसे शुद्धतम स्फटिक जैसी होनी चाहिए। लेकिन यह स्फटिक अमूर्त नहीं, कोई मूर्त वस्तु लगता है'।[१०] हम इस भ्रम में रहते हैं कि हमारे अन्वेषण में जो कुछ विशिष्ट, गंभीर और मूलभूत है, वह भाषा के अतुलनीय सारतत्त्व को ग्रहण करने के प्रयास में निहित होता है। प्रस्थापना, शब्द, प्रमाण, सत्य, अनुभव आदि की धारणाओं में विद्यमान व्यवस्था यही है। इस प्रकार परवर्ती विटगेन्स्टीन ने अपने ट्रैक्टेटस वाले विचार के सभी अंतःसंबंधित पक्षों को, उसकी विश्लेषण पद्धति, सांकेतिक परिभाषा, एकमात्र संपूर्ण भाषा के रूप में आदर्श भाषा और भाषा के सारतत्त्व का खंडन करते हैं। इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन यह विचार व्यक्त करते हैं कि भाषा तरह-तरह से कार्य करती है। जिन्हें हम 'प्रतीक', 'शब्द और'वाक्य' कहते हैं, उनके अनगिनत प्रयोग हैं। यह बहुलता कोई जड वस्तु के बारे में सदा के लिए निर्धारित नहीं होती, बल्कि भाषा के नए-नए रूप उनके नए-नए प्रकार सामने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आते हैं। शब्दों के विभिन्न प्रयोगों के अपने-अपने नियम होते हैं। परवर्ती विटगेन्स्टीन इसे भाषा-क्रीडा की संज्ञा देते हैं। दार्शनिक समस्याएं इसलिए उपस्थित होती हैं क्योंकि हम शब्द को किसी विशेष संदर्भ में उसके प्रयोग से अयुक्त कर देते हैं और उसके सारतत्त्व के अन्वेषण की ओर प्रयासरत रहते हैं। पुनश्चः परवर्ती विटगेन्स्टीन यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि दार्शनिक भ्रम इस कारण उठते हैं क्योंकि हम एक भाषाई क्रीडा की धारणा को लेकर उसे किसी दूसरी भाषाई क्रीडा पर प्रयुक्त करने लगते हैं। 'क्रीडा' शब्द का प्रयोग विभिन्न क्रीडाओं के लिए होता है, जैसे बोर्ड के खेल, ताश के खेल, गेंद के खेल इत्यादि। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं जो इन सबमें विद्यमान हो। इनमें केवल मिलती जुलती विशेषताएं हैं। इन्हें विटगेन्स्टीन पारिवारिक साम्य (फैमली रिजेभलेन्स) कहते हैं। यही बात किसी शब्द के विभिन्न प्रयोगों के लिए भी सत्य है। कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं, जो किसी शब्द के सभी प्रयोगों में विद्यमान रहता है। भाषा को समझाने के लिए विटगेन्स्टीन इसकी तुलना यंत्र से करते हैं। शब्द के कार्य भी वैसे ही भिन्न-भिन्न हैं जैसे विभिन्न यंत्रों या उपकरणों के। अतः भाषा को समझने के लिए शब्दों और वाक्यों को उनके वास्तविक संदर्भों में देखना आवश्यक है। इस प्रकार का विश्लेषण गहन व्याकरण है। इसका संबंध शब्दों के प्रयोगों या भाषा खेलों से है। ट्रैक्टेटस की अपेक्षा इन्व्हेस्टिगेशन में अर्थ सिद्धान्त में जो सुधार हुआ, उसे एंथनी केनी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'ट्रैक्टेटस में अर्थ का निर्धारण शुद्ध इच्छा द्वारा, अपार्थिव आत्मवादी तत्त्वमीमांसी 'स्व' की शुद्ध इच्छा द्वारा होता है, लेकिन इन्व्हेस्टिगेशन में अनुभवजन्य विश्व के सामाजिक समुदाय में उपस्थित मनुष्य की सक्रिय भागदारी द्वारा इसका निर्धारण होता है'।[११] ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीनने ज्ञान के कर्ता और विधेय, दोनों की व्याख्या अमूर्त रूप से की है। और इसी कारण उसकी भाषा की धारणा भी अमूर्त हो गयी। लेकिन इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन ने यह महसूस किया कि ज्ञान और यथार्थ के वस्तुगत क्षेत्र को निरूपित करने के लिए विश्लेषण पद्धति का उपयोग नहीं किया जा सकता। परवर्ती विटगेन्स्टीन के अनुसार भाषा का वस्तुगत अंतर्तत्त्व और संज्ञानात्मकता को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा के आलोक में परवर्ती विटगेन्स्टीन के दर्शन विषयक विचार का अवलोकन करेंगे। दर्शन के सम्बन्ध में परवर्ती विटगेन्स्टीन का एक अति लोकप्रिय कथन है कि दर्शन में हमारा उद्देश्य क्या होता है? मक्खी को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बोतल से बाहर निकलने का रास्ता दिखलाना। इस उदाहरण में बोतल में और कैद मक्खी दार्शनिक है और मक्खी का बोतल कुछ दार्शनिक समस्याएं जिनके समाधान के लिए वह प्रयासरत रहा, पर इस समस्या रूपी बोतल से बाहर निकलने का रास्ता उसे नजर नहीं आता, हालांकि बाहर निकलने का रास्ता बिल्कुल खुला हुआ है। विटगेन्स्टीन दर्शन संबंधी इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते कि दर्शन का प्रारंभ बिन्दु आश्चर्य है विटगेन्स्टीन के अनुसार दर्शन का प्रारंभ बिन्दु मानसिक उद्वेस्ट (मेन्टल क्रैम्प) है।

विटगेन्स्टीन के अनुसार दार्शनिक समस्या 'मैं मार्ग नहीं जानता' के रूप में व्यक्त करता है। जब भी कोई व्यक्ति किसी समस्या पर दार्शनिक चिन्तन करने की ओर उन्मुख होता है वह निर्विवाद रूप से अपने को किंकतर्व्यविमूढता की स्थिति में पाता है। यह एक अच्छे दार्शनिक के लिए अनिवार्य पूर्वउपाधि है। दार्शनिक समस्याओं का इसकी समग्रता में बोध में ही सम्भ्रान्तिता आपादीत है। इसलिए विटगेन्स्टीन यह कहते हैं कि मेरा उद्देश्य छद्म अर्थहीनता से स्पष्ट अर्थहीनता की ओर चलने की अनुदेशना देता है।[१२] दार्शनिक किसी समस्या को एक रोग के समान मानते हैं। दर्शन इस अर्थ में चिकित्साशास्त्र है और इसका लक्ष्य बौद्धिक स्वास्थ्य है। इस प्रकार दर्शन का प्रारंभ एक रोग से होता है और इसका उपचार वह चाहता है। हम यह भी कह सकते हैं कि दर्शन का जन्म रोग रूपी कारावास से होता है जिससे मुक्ति वह चाहता है। पर इस प्रकार का उपचार एवं मुक्ति अवश्य ही निर्दोष और स्थायी होनी चाहिए। दार्शनिक सिद्धान्तों का अधिक से अधिक एक क्षणिक दर्द निवारक गोली माना जा सकता है। यह समस्या का उपचार नहीं करता। यह दर्द निवारक गोली एस्प्रीन के समान है जबकि आवश्यकता शल्य चिकित्सा की है।

इस स्थल पर इस प्रश्न पर विचार कर लेना वांछनीय प्रतीत होता है कि दार्शनिक किंकर्तव्यविमूढता का कारण क्यां है ? दार्शनिक जटिलता उत्पन्न कैसी होती है ? हमारा बोध इस प्रकार की समस्याओं के जाल में कैसे फैल जाता है ? विटगेन्स्टीन के अनुसार, इस प्रकार की जटिलता का मुख्य कारण है भाषा सम्वन्धी हमारी भ्रान्त धारणायें। शब्दों और वाक्यों के साधारण व्यवहार को जान लेने पर ये भ्रम दूर हो जाते हैं और दार्शनिक प्रश्न उसके साथ-साथ विलीन हो जाते हैं। दार्शनिक जनसाधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होते हैं। अतः वे विभिन्न प्रकार के प्रश्न और निरर्थक समस्याएं उपस्थित करते हैं, जहाँ उनकी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई गुंजाइश नहीं। यह इसलिए हो जाता है कि वे साधारण शब्दों और वाक्यों का व्यवहार असाधारण ढंग से करते हैं। अंतः जहाँ दीवार नहीं, वहाँ भी उन्हें दीवार नजर आती है। जहाँ आत्मा, परमात्मा नहीं वहाँ भी वे उनकी दीवार खडी कर देते हैं। यदि दर्शन में शब्दों कें प्रयोग उसी अर्थ में किया जाय जिस अर्थ में दैनिक जीवन में प्रयोग किया जाता है तो अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं। समस्याएं हल करने के लिए प्रायः नूतन सूचना देना आवश्यक नहीं। आवश्यकता है पूर्व प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने की। शायद इसी से प्रभावित होकर इन्व्हेस्टिगेशन के अंत में विटगेन्स्टीन पुनः कहते हैं, 'दार्शनिक बेचैनी का मुख्य कारण एकांगी आहार है। लोग अपने विचारों को एकपक्षीय दृष्टिकोण से निर्मित करते हैं'।[13] जब हम किसी वाक्य का प्रयोग करते हैं तो उस समय हम उसके एक ही संदर्भ को ध्यान में रखते हैं और वाक्य के अन्य संदर्भो में प्रयोग की संभावना को हम विस्मृत कर देते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। 'ज्ञान' पद को संकीर्ण अर्थ में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान माना जाता है और यहीं दार्शनिक समस्या उत्पन्न होती है। जब हम इस पर विचार करते हैं कि अतीत और भविष्य का ज्ञान किस प्रकार संभव है ? यदि अतीत या भविष्य का ज्ञान संभव है तो इसे प्रत्यक्ष के विषय के रूप में अब वर्तमान रहना चाहिए जो कि असंभव है। इस समस्या का अंत तब हो जाता है जब हम ज्ञान के अन्य संदर्भों में प्रयोग के उदाहरणों से अवगत हो जाते हैं। जैसे स्मरण, भविष्यवाणी इत्यादि।

विटगेन्स्टीन मानते हैं कि सामान्यता के प्रति लालसा और विशेष के प्रति तिरस्कारपूर्ण मनोवृति ने आज अधिकाधिक रूप से मानवीय चिन्तन को प्रभावित किया है। हम अनेकता में एकता, विषमता में समता रखते हैं। विटगेन्स्टीन भाषा और लालसा के बीच संबंधों की चर्चा के आलोक में दार्शनिक समस्याओं पर इसके प्रभाव का अवलोकन करते हैं। इनके अनुसार दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की मनोवृति का घातक प्रभाव पड़ता है। भाषा विषयक हमारा चिन्तन एकता की इच्छा से नियंत्रित होता है। प्रत्येक वाक्य अक्षरों का वर्ग है और इसलिए इनमें पारस्परिक सादृश्यता उच्चतम मात्रा में पायी जाती है, जो हमें यह मानने को प्रेरित करता है कि सभी वाक्य समान रूप में ही कार्य करते हैं। विटगेन्स्टीन के शब्दों में 'वाक्यों की एकरूप विद्यता हमारे लिए भ्रम का कारण बन जाता है क्योंकि इनका प्रयोग हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित नहीं किया गया। यह बात दर्शन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के सम्बन्ध में विशेष रूप से कही जा सकती है'। एक दार्शनिक के साथ कठिनाई यह है कि वह विषय संबंधी प्राप्त कुछ निश्चित चित्र के आधार पर कार्य करता है, जो उसके सम्भ्रान्त का कारण बनता है। यही चित्र उसके परेशानी का मूल स्रोत है।

विटगेन्स्टीन ऐसा मानते हैं कि समस्या से ग्रसित किसी दार्शनिक को यदि उपरोक्त तथ्यों से अवगत कराया जाता है तो वे सभी दृष्टान्तों में इससे सहमत होने की इच्छा नहीं रखते। एक दार्शनिक के बौद्धिक व्याधि से हम स्पष्ट रूप से अवगत हो सकते हैं, पर दार्शनिक जो इस व्याधि से पीड़ित है उसे यह कभी स्पष्ट नहीं होता। यदि विटगेन्स्टीन की यह मान्यता मान्य हो तो हम कह सकते हैं कि रोगी एक निश्चित रूप से चिन्तन करता है, जबकि तथ्य यह है कि वह इस चिन्तन से तीव्र मतभेद रखता है। दार्शनिक की समस्या का उपचार कुछ हद तक इन तथ्यों की स्वीकृति में निहित है। इस बिन्दु पर यह परिस्पष्ट दिखता है कि बौद्धिक परेशानी जिससे विटगेन्स्टीन सम्बद्ध हैं और मनोवैज्ञानिक कठिनाईयाँ जिससे 'फ्रायड' एवं अन्य आधुनिक मनोवैज्ञानिक सम्बद्ध हैं, के बीच निकट का सम्बन्ध है।

उपर्युक्त परिस्थिति में दार्शनिक का अब क्या कार्य रह जाता है ? विटगेन्स्टीन के अनुसार दार्शनिक का कार्य वाक्यों के प्रयोग संबंधी कुछ वर्णन प्रस्तुत करना है। विटगेन्स्टीन के ही शब्दों 'दर्शन वास्तव में शुद्धतः वर्णनात्मक है।' विटगेन्स्टीन यह भी कहते हैं कि दार्शनिक को स्वयं किसी व्याख्या की क्रिया में संलग्न नहीं होना चाहिए। विटगेन्स्टीन कहते हैं 'प्रत्येक व्याख्या को हमें तिरस्कृत करना होगा और इसका स्थान वर्णन को देना होगा।' चूंकि दार्शनिकों का सही कार्य शुद्धतः वर्णनात्मक है, इसलिए इनसे किसी सिद्धान्त निरूपण की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। विटगेन्स्टीन का यह विचार ट्रैक्टेटस में व्यक्त इस विचार के समान प्रतीत होता है कि दर्शन की परिणति दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों में नहीं होती, बल्कि प्रतिज्ञप्तियों के स्पष्टीकरण में होती है।

उपसंहार

ट्रैक्टेटस और इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन द्वारा दर्शन के संबंध व्यक्त विचार शैली और अन्तर्वस्तु में भिन्न प्रतीत होता है। इसीलिए कुछ लोग यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि दर्शन के सम्बन्ध में विटगेन्स्टीन दो बिल्कुल ही असम्बद्ध और असमान विचार व्यक्त करते हैं। यह दृष्टिकोण अति सरल है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें विटगेन्स्टीन द्वारा व्यक्त दर्शन के सम्बन्ध में वैचारिक गहनता की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। वास्तव में, यदि हम विटगेन्स्टीन के पूर्ववर्ती और परवर्ती दार्शनिक चिन्तन के पारस्परिक अधिमूल्यांकन या अवमूल्यांकन के आधार पर कोई निष्कर्ष स्थापित करने की चेष्टा करेंगे तो वह एकांगी होगा। दर्शन के सम्बन्ध में तो यह और तीव्र रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। विटगेन्स्टीन के दार्शनिक चिन्तन को किसी विशिष्ट दर्शन पद्धति के अन्तर्गत सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा करना उनकी वैचारिक विविधता और गत्यात्मक के साथ अन्याय होगा। दर्शन के सम्बन्ध में इन्होंने जो भी विचार व्यक्त किये हैं, वह काल सापेक्ष हैं। जब इन्होंने महसूस किया कि ट्रैक्टेटस में व्यक्त दर्शन और इससे सम्बद्ध अनुलग्नक समस्याओं के प्रति इनका दृष्टिकोण बिल्कुल संगत नहीं तो इन्होंने अपने विचारों को तत्काल परिशुद्ध करते हुए एक नवीन विचार अपने परवर्ती दर्शन में प्रस्तुत किया। यह सही है कि उनके परवर्ती दर्शन का आधार पूर्ववर्ती दर्शन की आलोचना है। पर यह कल्पना हमारे लिए विचित्र प्रतीत होती है कि यदि ट्रैक्टेटस के सभी विचार पूर्णतः अमान्य हों तो इस कृति की उपयोगिता क्या रह जाती है। क्या इसे तिरस्कृत करते हुए इनके परवर्ती दर्शन को ही पूर्णरूपेण मान्यता दी जानी चाहिए। विटगेन्स्टीन इस प्रकार की किसी भी संभावना को स्वीकार करने को तत्पर नहीं। ट्रैक्टेटस के विचारों की सहानुभूतिपूर्ण आलोचना विटगेन्स्टीन प्रस्तुत करते हैं। ट्रैक्टेटेस में व्यक्त दर्शन संबंधी विचारों की पूर्णरूपेण अवहेलना न तो कभी इनका लक्ष्य रहा है और न इन्होंने इस ओर प्रयास किया है। ट्रैक्टेटस ओर इन्व्हेस्टिगेशन दोनों में ही विटगेन्स्टीन ने इस बात को स्वीकार किया है कि भाषा ही दार्शनिक विमर्श की सीमा है। अतः महत्त्वपूर्ण रूप से कुछ बिन्दुओं पर भिन्न होते हुए भी, विटगेन्स्टीन इस उभयनिष्ठ बिन्दु पर बल देते हैं कि दर्शन का कार्य वास्तविकता का स्पष्टीकरण और व्याख्या नहीं। दर्शन संबंधी विटगेन्स्टीन का यह विचार कुछ आधार वाक्यों पर आधारित है। जिन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। विटगेन्स्टीन इस बात को मानते हैं कि हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह प्राकृतिक विज्ञानों के माध्यम से ही। इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों के भिन्न-भिन्न शाखाएं परिघटनाओं का वर्णन अपने परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक विज्ञान भौतिक परिघटनाओं का वर्णन करता है, रसायन विज्ञान रसायनिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है, वनस्पति विज्ञान भिन्न-भिन्न पौधों का वर्णन करता है इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के तर्क के आधार पर विटगेन्स्टीन इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जिन परिघटनाओं का वर्णन प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है उनके संबंध में दर्शन के पास वर्णन करने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने समग्र दार्शनिक चिन्तन में विटगेन्स्टीन इस पर हमेशा बल देते रहे हैं कि दार्शनिक विमर्श के प्रयोग के वर्णन तक ही सीमित है। संक्षेप में, हम कह संकते हैं कि विटगेन्स्टीन के लिए दर्शन का सम्बन्ध आनुभविक वास्तविकता या वास्तविकता के विश्व से नहीं।

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में यह कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती वस्तु के बीच संगति नहीं हो सकती।

इनके पूर्ववर्ती और परवर्ती दर्शन में दर्शन की सही पद्धति के रूप में तत्त्वमीमांसा के विश्राम को स्वीकार किया गया है। विटगेन्स्टीन ने दर्शन विषयक जो भी विचार व्यक्त किये हैं उन्हें अर्थ प्रदान करने में तत्त्वमीमांसक सफल नहीं हो सके। इनके पूर्ववर्ती दर्शन में तत्त्वमीमांसकों ने इनके अभिव्यक्तियों को वास्तविकता के तत्त्व के साथ सह संबंधित नहीं किया, जबकि इनके परवर्ती दर्शन में भाषा क्रीडा के परिपेक्ष्य में तत्त्वमीमांसा अपना कोई स्थान नहीं रखता।

उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता कि विटगेन्स्टीन के पूर्ववर्ती और परवर्ती विचार में दर्शन विषयक कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जो स्थायी रूप से वर्तमान रहते हैं। अपने मत की पुष्टि में मैं विटगेन्स्टीन के ही एक महत्त्वपूर्ण परन्तु लघु चर्चित उक्ति को प्रस्तुत करना चाहूंगा। विटगेन्स्टीन ने १९१३ में 'नोट्स ऑन लॉजिक' पर विचार व्यक्त करते हुए कहा था 'दर्शन में अनुगमन के लिए कोई स्थान नहीं, यह विशुद्धतः वर्णनात्मक है। दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों के समतुल्य नहीं माना जा सकता। दर्शन वास्तविकता संबंधी कोई चित्र प्रदान नहीं करता और वैज्ञानिक अन्वेषणों की यह न तो पुष्टि करता है और न ही तिरस्कृत है। दर्शन में तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा निहित है, पर तत्त्वमीमांसा ही इसका आधार है। ज्ञानमीमांसा मनोविज्ञान का दर्शन है। दर्शनीकरण का प्रथम अपेक्षित गुण है व्याकरण के प्रति अविश्वास। दर्शन वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक रूप का सिद्धान्त है। तार्किक प्रतिज्ञप्तियों की सही व्याख्या अन्य प्रतिज्ञप्तियों की तुलना में इसे अद्भुत स्थिति प्रदान करता है'।[१४] इस परिभाषा में चर्चित सभी बिन्दुओं पर विटगेन्स्टीन ने एक स्थिर दृष्टिकोण अपनाया है। दर्शन संबंधी इसी विचार को परिवर्तित करते हुए गहनता प्रदान करना इनका उद्देश्य रहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, दर्शन संबंधी उपर्युक्त विचारों को अस्वीकार करने की बात इन्होंने न तो कभी की है और न कभी इनका ऐसा मन्तव्य रहा है।

इन्व्हेस्टिगेशन की भूमिका में विटगेन्स्टीन ने ट्रैक्टेटस में व्यक्त अशुद्धियों को स्वीकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उनका परवर्ती दर्शन बिल्कुल नवीन है। इस बात की संभावना है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती दार्शनिक चिन्तन के बीच भिन्नता को स्वयं विटगेन्स्टीन ने अतिशयोक्ति रूप में स्वीकार किया है। इसे आश्चर्यजनक नहीं माना चाहिए, क्योंकि ट्रैक्टेटस लिखने और इन्व्हेस्टिगेशन के लेखन के बीच जो अन्तराल का काल है उसमें विटगेन्स्टीन ने उन समस्याओं पर अपने ध्यान को अधिक केन्द्रित किया है, जो उनके पूर्ववर्ती दर्शन से परवर्ती दर्शन को भिन्नता प्रदान करता है। लेकिन जैसे जैसे इन्व्हेस्टिगेशन के उपरान्त अग्रसर होते हैं हम यह स्पष्ट महसूस करते हैं कि उनके विचारों में ट्रैक्टेटस से समानता उतना हीं महत्त्वपूर्ण है जितना की असमानता।

डॉ. अरूण कुमार प्रसाद

उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
मिर्जागालिब कॉलेज, गया
(मगध विश्वविद्यालय)

टिप्पणियाँ

१. एल. विटगेन्स्टीन, ट्रैक्टेटस, अनु. डी. एफ. पियर्स एण्ड बी. एफ. मेकग्यूनीस, रोटलेज एण्ड केगन पॉल, लंदन १९७८, पृ. ३
२. उपरोक्त संख्या ४.००३१
३. उपरोक्त संख्या ४.००२
४. उपरोक्त संख्या ४.११२
५. उपरोक्त संख्या ४.०४
६. उपरोक्त संख्या ४.२
७. उपरोक्त संख्या ३.१४३२
८. एल. विटगेन्स्टीन, फिलॉसफिकल इन्व्हेस्टिगेशन, अनु. सी. इ. एम. एंसकांब, ऑक्सफोर्ड यूनिवार्सिटी प्रेस, १९५२
९. उपरोक्त खंड १२४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१०. उपरोक्त खंड ५.५५६३

११. एंथनी केनी, द लेगेसी ऑफ विटगेन्स्टीन, बसिल ब्लैकवेल, न्यूयार्क १९६४, पृ. ९

१२. एल. विटगेन्स्टीन, माइंड में, LXI, नं. २४२, (अप्रैल १९५२,) पृ. २५९

१३. उपरोक्त नं. ८,५९३

१४. एल विटगेन्स्टीन, नोट बुक्स १९१४-१९१६, बसिल ब्लैकवेल, १९१६, पृ. १३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शंकर के दर्शन में कर्म

जब कभी शंकराचार्य के वेदान्त का नाम लिया जाता है तो स्मृतिपटल पर उनका जगत्‌मिथ्यावादी व कर्म विरोधी रूप सामने आ जाता है जो कि विद्वानों द्वारा उनके दर्शन के मुख्य पक्षों की, जिनमें उनका कर्मयोगी पक्ष भी है, उपेक्षा किये जाने के कारण है। उच्च ज्ञान व उच्च कर्म की ओर ले जाने वाले शंकराचार्य के दर्शन के इस रूप पर प्रकाश डालना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

जब साधारण व कतिपय विद्वानों (जिनमें दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित माने जाने वाले लोग भी शामिल हैं) में कई बार शंकराचार्य की छवि मात्र तर्क, श्रुति-प्रामाण्य पर अनावश्यक अतिनिर्भरता तथा शुष्क चिन्तन की भित्ति पर अपने दर्शन का प्रासाद खड़ा करने वाले दार्शनिक के रूप में दिखाई देती है जो कि शंकर के महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों के सीधे अवलोकन न किये जाने के कारण है। अधिकांश विद्वान तो पाश्चात्य ग्रन्थों या पाश्चात्य प्रभावित विद्वानों के द्वारा अंग्रेजी में लिखे गये ग्रन्थों के ऊपर ही आश्रित रहे हैं जिससे शंकर के दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्षों की या तो उपेक्षा हुई है या उन्हें ठीक से समझा नहीं गया है। एक दूसरा वर्ग भी है जिन्होंने मात्र प्रस्थानत्रयी के भाष्यों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है तथा यदि शंकराचार्य के योग सम्बन्धी ग्रन्थों व अन्य फुटकर ग्रन्थों पर भी उनकी दृष्टि गयी होगी तो भी साधना में उतरे बिना उनकी पर्याप्त समझ न हो पाने के कारण इनकी उपेक्षा कर दी गयी है। शंकर मे मूल ग्रन्थों का उचित ढंग से अध्ययन व अनुशीलन करने पर ऐसी धारणा स्वतः समाप्त हो जायेगी कि शंकर कर्म के विरोधी हैं व व्यावहारिक जीवन की उन्होंने उपेक्षा की है।

योग साधना के द्वारा की गयी चित्तशुद्धि के द्वारा अपनी अध्यात्मिक चेतना के विकास किये जाने के बिना शंकर के दर्शन को न तो पूर्णरूपेण समझा जा सकता है और न ही उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, तथा विनोबा भावे जैसे कर्मयोद्धा शंकराचार्य के दर्शन से ऊर्जा लेते रहे हैं तो वर्तमान पीढ़ी को भी यह ज्ञात होना चाहिए कि शंकर दर्शन व्यावहारिक जगत में उच्चतर कर्म करते हुए जीने की प्रेरणा व उच्च सामर्थ्य देता है। इसी बात को रेखांकित करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

शंकराचार्य के दर्शन में सर्वत्र कर्मकाण्ड का खण्डन व ज्ञानकाण्ड की स्थापना देखने को मिलती है। शंकर श्रुतियों व युक्तियों के द्वारा अपने विचार की

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८,अंक २, मार्च १९९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रामाणिकता निरूपित करते हैं व अपने समर्थन में गीता व श्रुतियों को बहुतायत से उद्धृत करते हैं। शंकर के अनुसार जिस प्रकार से अन्धकार के द्वारा अन्धकार का नाश नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार कर्म (अविद्या) के द्वारा अज्ञान (अविद्या) को दूर नहीं किया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है मात्र कर्म से नहीं। शंकराचार्य पूर्वपक्षी के मतों का खण्डन करने के लिए ये पाँच प्रश्न उठाते हैं।[1]

(१) क्या परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति केवल कर्म से होती है ? (२) अथवा विद्या की अपेक्षायुक्त कर्म से ? (३) किंवा परस्पर मिले हुए विद्या व कर्म दोनों से ? (४) अथवा कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से ? (५) या केवल विद्या से ही ? इनके उत्तर में वे कहते हैं कि परम श्रेय की प्राप्ति केवल कर्म से नहीं हो सकती क्योंकि मोक्ष का नित्यत्व है और जो वस्तु कर्म का कार्य है उसकी अनित्यता लोकप्रसिद्ध है, श्रुति भी कहती है "जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण होता है।"[2] विद्या सहित कर्मों से भी मोक्ष का आरम्भ नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु आरम्भ होने वाली होती है वह अनित्य हुआ करती है किन्तु मोक्ष तो नित्य है। विद्या और कर्म का विरोध है इसलिए उनका समुच्चय होना भी असम्भव है। ऐसी दशा में विद्या और कर्म दोनों से मोक्ष होता है, यह सिद्ध नहीं होता है। कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि "जो पुरुष अनात्मदर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु सम्बधिनी कामना हो सकती है, कामनावाला ही कर्म करता है और उसी से उनका फल भोगता है इसके विपरीत आत्मैकत्वदर्शी की दृष्टि में विषयों का अभाव होने के कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती है। आत्मा तो अपने से अभिन्न है, इसलिए उसकी कामना भी असम्भव होने के कारण उसे स्वात्मस्वरूप में स्थित होना रूप मोक्ष सिद्ध ही है। इसलिए भी "ज्ञान और कर्म का विरोध होने के कारण मोक्ष के प्रति कर्म की अपेक्षा नहीं है।"[3] अतः सिद्ध हुआ कि केवल विद्या (ज्ञान) से ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है।

कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य है। कर्म से प्राप्त होने वाले लोक अनित्य हैं तथा ज्ञान फल मोक्ष नित्य है। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि (मुण्डक ३.२/२/८,) आनंद. (तैत्ति ३०) [illegible], अभय(बृहदा. ३०४/२/४) इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हैं व ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के मध्य कार्यांतर का निषेध करती हैं। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम होने पर भय ग्रस्त मनुष्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का भय दूर करने के लिए सर्पनिवृत्तिहेतु लाठी आदि की अपेक्षा नहीं है किन्तु केवल इस मिथ्या भ्रम को दूर करके रज्जु के ज्ञान की अपेक्षा उसी प्रकार ब्रह्म में जगत्‌रूपी भ्रम की निवृत्तिहेतु किसी कर्म की अपेक्षा न होकर केवल ज्ञान की अपेक्षा है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इस "अतद् में तदबुद्धि" रूप अध्यास की निवृत्ति भले ही ज्ञान से होती है कर्म से नहीं किन्तु यह ज्ञान सहायक साधनों के रूप में कर्म की अपेक्षा रखता है। शंकर इस कर्म विरोधी नहीं हैं। वे कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि व फिर शोधित किये हुए चित्त में ही ज्ञान का उदय मानते हैं जैसे दर्पण की धूल पोंछना कर्म है तथा उसमें अपना रूप देखना ज्ञान है। बिना रूप देखे केवल धूल पोंछने से ज्ञान नहीं होगा वह तो देखने से ही होगा और वह देखना तभी सम्भव होगा जब दर्पण की धूल पोंछने का कर्म किया जायेगा। इस उदाहरण में जो सम्बन्ध धूल पोंछने व दर्पण में देखने के मध्य है वही शंकर के कर्म और ज्ञान के मध्य है।

जिन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है उनकी भी कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है। क्योंकि कामना ही कर्म का कारण होती है, वही उसकी प्रवर्तक है। जो पूर्ण काम हैं उनकी कामनाओं का अभाव होने पर स्वरूप में स्थिति हो जाने पर कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है। अतः कर्म ज्ञानी की ही परिधि में आते हैं अज्ञानी की नहीं। शंकराचार्य की इस बातको इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे दर्पण पहले से ही स्वच्छ करके अपना प्रतिबिम्ब देख चुकने के बाद देखने वाले की प्रवृत्ति पुनः दर्पण स्वच्छ करने में क्यों होगी, वह तो देख ही चुका है इस प्रकार इस दृष्टांत से भी सिद्ध है कि शंकर कर्म की उपादेयता की अवहेलना नहीं करते हैं वरना कर्म की आवश्यकता पर बल देते हैं किन्तु अपने दार्शनिक सिद्धान्त के निरूपण में जो कि उस समय की सामयिकता एवं प्रासंगिकता भी कर्म की सीमायें समझाने की कोशिश करते हैं। शंकर के तर्कों का गहराई से विश्लेषण न कर पाने के कारण इस धारणा को बल मिलता दिखाई देता है कि वे कर्म के विरोधी हैं।

कर्म सीधे ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराते है वरन ज्ञान की प्राप्ति के हेतु होते है। शंकर ने कहा है कि "आत्म लाभ में पूर्व संचित पाप रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा नित्यकर्म ज्ञान की प्राप्ति के हेतु अवश्य होते हैं"[१] तथा "ब्रह्मचर्य, तप, सत्यभाषण, शम, दम, और अहिंसा आदि अन्य कर्म भी इतर आश्रमों के लिए प्रसिद्ध ही हैं। वे तथा ध्यान धारणादि रूप कर्म भी हिंसा आदि दोषों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असंकीर्ण होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन हैं।"[५] श्रुतियों में जगह जगह कर्म पर जोर दिया गया है इसी आधार पर शंकर भी कहते हैं कि "जन्मान्तर में किया हुआ अग्निहोत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन है, जिससे कि कोई लोग तो जन्म से ही विरक्त देखे जाते हैं, और कोई कर्म में तत्पर, वैराग्यशून्य एवं ज्ञान के विरोधी दीख पड़ते हैं।"[६] कर्म फलों की अधिकता होने के कारण भी श्रुति मे उनका विशेष विस्तार है क्योंकि पुरुषों की कामनाओं की अधिकता होने से भी प्रति श्रुति का अधिक यत्न होना उचित ही है ऐसा शंकर मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि "कर्म ज्ञानोत्पत्ति में उपायरूप है तथा प्रयत्न उपाय में ही करना चाहिए उपेय में नहीं।"[७] कर्मों के द्वारा ही पूर्वसंचित पापरूप प्रतिबन्ध का क्षय होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है व उपनिषद् प्रतिपादित श्रवण, मनन व निदिध्यासन व्यर्थ नही हैं। क्योंकि ये ज्ञान के प्रतिबन्धकों का नाश करने वाले हैं। वे कहते हैं "ज्ञान की उत्पत्ति प्रतिबन्ध के क्षय से ही होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञानोत्पत्ति ईश्वर कृपा, तप एवं ध्यानादि के अनुष्ठान से नहीं हो सकती, क्योंकि अहिंसा एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये कार्य तो साक्षात् उसके (ज्ञानोत्पत्ति) के कारण ही हैं।"[८]

शुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप साधक में वह पात्रता आती है जिसके कारण क्रमशः वह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति व मुमुक्षुत्व इन "साधन चतुष्टय"[९] से युक्त होकर वेदान्त का अधिकारी होता है क्योंकि "सिद्धि अधिकारी को ही होती है अनधिकारी को नहीं।"[१०] इस पात्रता की प्राप्ति का उपाय उत्तम व शुभकर्म ही है जिनकी ओर इंगित करते हुए शंकर ने अपने ग्रन्थ विवेक चूड़ामणि के प्रारम्भ में ही कहा है कि "आत्मा और अनात्मा का विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्मभाव से स्थिति और मुक्ति ये तो करोड़ों जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त हो ही नहीं सकते,"[११] इससे कर्म की महत्ता स्पष्ट ध्वनित होती है। जब वे कहते हैं कि वस्तुसिद्धि तो विचार से ही होती है करोड़ों कर्मों से कुछ नहीं होता, तब उनका तात्पर्य ये दिखलाना मात्र होता है कि कर्म वस्तुपलब्धि ज्ञान के साक्षात साधन नहीं हैं बल्कि वे तो चित्त शुद्धि के लिए हैं, ज्ञान प्राप्ति में चित्तशुद्धि आवश्यक है।

शंकर ने अनेकों बार ज्ञान प्राप्ति के साधन रूप में चित्त शुद्धि हेतु शुभ कर्मों का तथा योग साधना का निर्देश दिया है। श्वेताश्वतर उपनिषद के भाष्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(यदि इसे शंकराचार्य कृत माना जाये)[१२] में उन्होंने योग की आसन, प्राणायाम आदि विधियों को बताने के लिए "याज्ञवल्क्य" उद्धृत किया है जिसमें योग साधना का वर्णन (जोकि सर्वसामान्य मतानुसार हठयोग की श्रेणी में आता है) किया गया है जिसमें बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा नाड़ी शोधन करना चाहिए जिससे चित्त शोधन होता है ऐसा साधक ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है व उसी में श्रवण, मनन व निदिध्यासन चरितार्थ होते हैं। अपने महान् ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में उन्होंने साधना पद्धति का वर्णन करते समय हठयोग का भी निर्देश इस प्रकार दिया है कि "जिनकी वासनाएं क्षीण नहीं हुई हैं उन्हें यह योग हठयोग के सहित करना चाहिए।[१३] श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग इनको शंकर ने मुक्ति का साक्षात् साधन बताया है।[१४] ऐसे अधिकारी का गुरू की शरण में जाना तथा सेवा द्वारा उन्हें प्रसन्न करना, उत्तम शास्त्रों का पठन, पाठन, श्रवण-मनन करना, तप आदिव्रतों का पालन करना आदि कर्मों का निर्देश शंकर के दर्शन में कर्म की उपादेयता को सूचित करते हैं।

साधना में स्व प्रयत्न की प्रधानता उन्होंने बतायी है। रोग आदि के समान भवबन्ध की निवृत्ति के लिए विद्वान को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वयं ही मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

शंकर के दर्शन का मोक्ष पलायनवाद नहीं है जैसा कि अक्सर समझ लिया जाता है यह मोक्ष तो अज्ञान जनित बन्धन से, वासनाओं से है जिनके कारण ही हम अच्छे कार्यों को करते समय भी ईमानदारी से प्रयत्न नहीं कर पाते हैं। हमारी कर्मशक्ति पग-पग पर इन बेड़ियों से जकड़े होने की वजह से अवरुद्ध होती रहती है। इन बेड़ियों से मुक्ति पाकर ही हमें पूर्ण स्वतन्त्रता का अहसास हो सकता है। वासनाओं व अविद्या के बन्धनों से छूटे बिना मानव गुलाम ही है। गुलाम व्यक्ति न तो अच्छा कार्य करता है न ही बुरा व ऐसे व्यक्ति से महान कार्यों, परोपकार, दया, मानवता आदि की अपेक्षा करना अनुचित ही है। इन बन्धनों को काटे बिना कोई कैसे निस्वार्थ सेवा या कार्य कर सकता है वह यश, धन आदि ज्ञात या अज्ञात वासनाओं को प्रेरणा से ही प्रवृत्त होता है चाहे वह देश सेवा करे या समाज सेवा या सर्वोदय की साधना। समाज सुधार व धार्मिक सुधार के आन्दोलनों की असफलता का एक प्रमुख कारण सुधारणों में आत्मानुभूति का न होना भी है क्योंकि आत्मानुभूति के द्वारा ही जगत से ऐकात्म्यभाव की प्राप्ति होती है व तभी सच्ची आन्तरिक प्रेरणा व पर पीड़ा के प्रति सच्ची संवेदना व करुणा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का विकास होता है व महान कार्य सम्पन्न करने हेतु आन्तरिक व बाह्य स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। अज्ञान व वासनाओं के बन्धनों से मुक्त होना ही सच्ची स्वतन्त्रता है बाकी तो छलावा है। ऐसे व्यक्ति में ही महान् कार्यों को करने का सामर्थ्य होता है। खुद शंकर ही इसके उदाहरण हैं। उनका पूरा जीवन कर्म में ही बीता, बचपन की अवस्था में सम्पूर्ण भारत चार बार भ्रमण उन्होंने पैदल चलकर ही किया था। कैसी महान थी उनकी कर्मशक्ति। कर्म का भव्य रूप तो शंकराचार्य में और भी दिखाई देता है कि अल्प समय में ही उन्होंने महान उपलब्धियाँ अर्जित की। कहा जाता है कि बारह वर्ष की आयु के पहले ही उन्होंने प्रस्थानत्रयी में भाष्यों सहित सम्पूर्ण लेखन कार्य पूरा कर लिया था।

वैचारिक पठन के गर्त में जा रहे सम्पूर्ण भारत में वेदान्त का डंका पीटकर विकृत कर्मकाण्ड, कुरीतियों व अन्धविश्वासों का खण्डन करके अद्वैतवाद का महान् क्रान्त दर्शन विकसित व परिमार्जित रूप में प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति की रक्षा करने वाले व भारत को नई संजीवनी देनेवाले शंकराचार्य को कर्म विरोधी कहना उनके साथ अन्याय करना होगा।

इस प्रकार ये स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य का दर्शन कर्म के उच्च व दिव्य रूप में साधक को प्रवृत्त करता है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन से युक्त महान् साधना पद्धति प्रस्तुत करता है जिसके अभ्यास द्वारा ब्रह्म -आत्मा की अपरोक्षानुभूति तथा गीता एवं गाधी के निष्काम कर्मयोगी को सच्ची सामर्थ्य प्राप्त की जाती है जिनसे ही महान कार्यों का निष्पादन होता है।

कॉम्पन ग्रीव्ज लि.
११ बी, सेक्टर १
पोथमपुर, जि. धार
मध्यप्रदेश ४५४७७५

राजदीप सिंह

टिप्पणियाँ

१. तैत्तिरीय उपनिषद शांकरभास्य वल्ली। अनुवाक ॥
२. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। छान्दोग्य उपनिषद ८/१/६
३. तैत्तिरीय उपनिषद शांकरभाष्य वल्ली। अनुवाक ॥
४. आत्मलाभे तु पूर्वोपचित प्रतिबन्धापनय द्वारेण विद्याहेतुत्वं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिपद्यन्ते कर्मणि नित्यानीति। वही

५. ब्रह्मचर्य तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसेत्येवमादीन्यापि कर्माणीतरा श्रम प्रसिद्धानि विद्यौत्पत्तौ साधक तमान्य संकोर्णत्वाद्धिद्यन्ते ध्यान धारणादि लक्षणानि च। वही

६. यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादि लक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति। येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित्। केचित्तु कर्मशु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः। वही

७. उपाय भूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवो चाम। उपाये ऽधिको यत्नः कर्त्तव्यो नोपेये। वही

८. प्रतिबन्ध क्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वमीश्वर प्रसाद तपोध्यानाद्यंनुष्ठानादिति नियमोऽस्ति। अहिंसा ब्रह्मचर्यादिनां चाविद्यां प्रत्युपकारत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनन निदिध्यासनानाम्। वही

९. विवेक चूडामणि १९

१०. अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिविशेषतः उपाया देशकालाद्या सन्त्यस्मिन्सहकारिण :। विवेक चूडामणि १४

११. आत्मानात्म विवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मत्मना संस्थिति मुक्तिर्नो शतकोटि जन्मसु कृतै : पुण्यैर्बिना लभ्यते। विवेक चूडामणि श्लोक २

१२. विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि यह शंकराचार्य द्वारा किया हुआ है या नहीं

१३. किंचित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः। अपरोक्षानुभूति १४३

१४. श्रद्धाभक्ति ध्यान योगान्मुमुक्षोर्मुक्तेहेतुन्वक्ति साक्षाच्छ्रतेर्गी। यो वा एतष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्या कल्पितादेह बन्धनात्॥ ४८॥ विवेक चूडामणि।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रामानुज के दर्शन में "ज्ञान" का स्वरूप

(सविषयक और सविशेषत्व के सन्दर्भ में)

रामानुज के दर्शन में ज्ञान का सिद्धान्त उनके विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त एवम् सगुण सत्ता की धारणा पर आधारित है। यही नहीं यह उनके दर्शन में सत्ता के स्वरूप को भी अधिक स्पष्ट करता है। यतीन्द्रमतदीपिका १ में स्पष्ट किया गया है कि धर्मभूत ज्ञान का सिद्धान्त सृष्टि या विश्व चैतन्य, आत्म चैतन्य एवम् ब्रह्म चैतन्य -इन तीनों को अर्थ देता है।

ज्ञान पराक् अजड़ द्रव्य है जो स्वयं प्रकाश (एवं अर्थ प्रकाशक) है किन्तु उसमें अपने स्वरूप की चेतना का अभाव है। यह एक ऐसा द्रव्य है जो कि स्वयं को तथा स्वयं के सम्पर्क में आने वाली अन्य सभी वस्तुओं को दूसरों (आत्मा) के लिए प्रकाशित करता है। स्वयंप्रकाश तथा अर्थ प्रकाशक होने एवम् आत्म चेतना का अभाव होने से ज्ञान को चेतन और जड़ के बीच का कहा गया है। यह पराक् अजड़ द्रव्य, ज्ञान, चेतन व स्वयं प्रकाश आत्मा (प्रत्यगात्मन्) एवम् ईश्वर का अनिवार्य गुण है और साथ ही साथ यह आत्मा का स्वरूप भी है। आत्मा द्रव्यात्मक चेतना है जो चेतना को गुण के रूप में भी रखता है। ये दोनों तार्किक दृष्टि से भिन्न हैं तथा अपृथक हैं।

आत्मा व ईश्वर के गुण के रूप में ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। आत्मा ही धर्मभूत ज्ञान का आधार है जिससे पृथक इसकी सिद्धी नहीं हो सकती है। आत्मा और उसके धर्मभूत ज्ञान के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि दीपक और उसके प्रकाश के बीच है। जिस प्रकार दीपक से उसके प्रकाश की भिन्नता देखी जाती है परन्तु एक को दुसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) आत्मा से भिन्न है पृथक नहीं। प्रकाश के समान ज्ञान भी स्वयं को, आश्रय रूप आत्मा को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है

"स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्यचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। ....यत्त्वनुभूते स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां तथैवेति नियमोऽस्ति।"[२]

रामानुज के अनुसार ज्ञान आत्मा और ईश्वर का गुण ही नहीं है परन्तु उनका स्वरूप भी है जिसे उन्होंने धर्मीभूत ज्ञान या सारभूत ज्ञान कहा है -

---

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमितिव्यपदेश :, विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुण :।" [३]

सारभूत ज्ञान की तुलना भी दीपक की ज्वाला से की गई है और यह कि धर्मभूत ज्ञान का इससे वही सम्बन्ध है जो कि ज्वाला से किरणों का होता है उससे यह उसी प्रकार निकलता है जिस प्रकार ज्वाला से किरणें निकलती हैं। रामानुज आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सूर्य की उपमा का सहारा भी लेते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है किन्तु प्रकाश उसका गुण भी है जिससे वह अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। वह स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है किन्तु उसी प्रकाश से जब अन्य वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो वह पराक् है जो कि अन्य के लिए है। आत्मा की सत्ता प्रत्यक् होते हुए भी धर्मभूत ज्ञान की दृष्टि से वह पराक् है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है तथा ज्ञान का आश्रय भी है।

ज्ञान के सन्दर्भ में यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान सदैव सविशेष अथवा विषय का ही होता है अथवा ज्ञान की ऐसी अवस्था भी सम्भव है जिसमें विषय के लिए कोई स्थान नहीं होता है। ज्ञान के विशेषत्व और विषयत्व का मुख्य विवाद अद्वैत वेदान्तियों तथा विशिष्ट द्वैतवादियों के मध्य रहा है और इसका कारण उनकी निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म सम्बन्धी परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसा है। शांकर मत के विरुद्ध रामानुज ने समस्त प्रकार के ज्ञान को अनिवार्य रूप से सविषयक और सविशेष माना। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है -

"न च निर्विषया काचित्संविदस्ति - अनुपलब्धे :" [४]

विषय न केवल सत् है वरन् उसका स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि ज्ञान में प्रकट होता है। ज्ञान का सार उसके अपने विषय को प्रकाशित करने के साधनात्मक रूप में निहित है -

"स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा" [५]

श्री भाष्य में अनेक स्थलों पर रामानुज के सविषयक ज्ञान से सम्बन्धित विचार स्पष्ट होते हैं।

अद्वैतवेदान्तियों ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के लिए भी उसके निर्विषयत्व को अनिवार्य माना है। उनके अनुसार ज्ञान न तो "विषय रखता है" और न ही "विषय बनता है"। वह स्वयंप्रकाश व स्वतन्त्र है जिसकी अपरोक्ष अनुभूति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है। जानने के लिए विषय की अपेक्षा रखने पर ज्ञान का अस्तित्व विषय पर निर्भर व परतन्त्र हो जाता है जबकि वास्तव में "ज्ञान" और "अस्तित्व" पयार्यवाची हैं क्योंकि यदि ये दोनों अलग होते तो सत् ज्ञान से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता एवं स्वतन्त्र रूप में ही ज्ञात होता। किन्तु वास्तव में किसी वस्तु को ज्ञान स्वतन्त्र रूप से जानना अपने आप में विरोधाभास है। अद्वैतवेदान्तियों के इस मत के विरुद्ध रामानुज ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व को अर्थप्रकाशत्व के साथ ग्रहण किया है। रामानुज के अनुसार ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व में उसका सविषयत्व ही प्रकट होता है -

"विषयप्रकाशनतयैवोपलब्धेरेवहि संविदस्स्वयम्प्रकाशता समर्थिता। संविदो विषयप्रकाश (न) तास्वभावविरहेसति स्वयम्प्रकाशत्वसिद्धेरनुभूतेनु भवान्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्युच्छतैव स्यात्"।[६]

ज्ञान के स्वयंप्रकाश होने का तात्पर्य है कि ज्ञान "बिना किसी अन्य की सहायता" से स्वयं को प्रकाशित करने के साथ विषय को भी प्रकाशित करता है।

रामानुज के दर्शन में ज्ञान का सविषयत्व मुख्य रूप से ज्ञान के सविषयत्व और भेद पर आधारित है। ये भेद हैं -

१. ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के मध्य भेद
२. ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय विषय का भेद
३. ज्ञान और ज्ञेय का भेद
४. एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का भेद, एवम्
५. एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय का भेद

इन भेदों की स्वीकारोक्ति ही ज्ञान के सविषयत्व को आधार प्रदान करती है और ये भेद हमारे साधारण अनुभव के विषय हैं। यदि ज्ञाता का ज्ञान व ज्ञेय से भेद नहीं होता तो विषय का ज्ञान असम्भव होता। इन भेदों की अस्वीकारोक्ति वास्तव में ज्ञान की अस्वीकारोक्ति है क्योंकि यदि समस्त नामरूपात्मक जगत व उसके विषयों को अविद्या की सृष्टि मान कर केवल ज्ञान को सत् प्रमाणित किया जाता है तो यह भी एक प्रकार का निर्धारण है और प्रत्येक निर्धारण सत्ता के भेद या गुणों को प्रमाणित करता किन्तु यदि निर्धारण से बचने के लिए ज्ञान को प्रमाणित हुआ नहीं माना जाए तो ज्ञान आकाश - कुसुम की भाँति ही असत होगा। पुनः यदि ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना जाए तो यह प्रश्न उठता है कि यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रमाण किसका है क्योंकि यदि ज्ञान किसी विषय का नहीं होता तो यह प्रमाण भी न होता - अपिच संवित्सिध्यति वा नवा। सिध्यतिचेत् स्यात्। न चेत्तुच्छता गगनकुसुमादिवत्। सिद्धिरेव संविदितिचेत् कस्य कं प्रतीतिवक्तव्यं यदि न कस्यचित् कंचित्प्रति सा तर्हि न सिद्धिः। सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्कंचित्प्रति भवति।"[७]

दूसरे शब्दों में, एक विषय अपने कुछ निर्धारित गुणों के कारण दूसरे विषय से भिन्न होता है और इस भेद के कारण इन विषयों के ज्ञान में भी भेद होता है क्योंकि ज्ञान का आकार और उसकी प्रकृति उसके विषय के आकार और प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है। अतः प्रत्यक्ष अनुभव सहित हमारा प्रत्येक अनुभव इस आकार का होता है कि "मैंने यह देखा है"।[८]

प्रत्यक्ष सदैव गुणयुक्त पदार्थों का ही होता है। अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित है इसीलिए प्रत्यक्ष में विशेषगुणों का ज्ञान होना आवश्यक है। शब्द प्रमाण (शुद्ध या शास्त्र) शब्दों का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमें प्रत्यय और उपसर्ग है, इसीलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का अर्थ प्रकट नहीं कर सकते हैं जो कि निर्विशेष हो। रामानुज के मतानुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष के समान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी " यह इस प्रकार का है, के आकार का होता है जो कि विषय में उसके विधेय को लागू करता है। यद्यपि इस अवस्था में "विषय" का ही ज्ञान होता है जाति या सामान्य का नहीं। इस प्रकार "विषयसहित शुद्ध ज्ञान" ही यथार्थता को किसी भी प्रमाण द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता है।

रामानुज ज्ञान-प्रक्रिया के विश्लेषण के द्वारा भी अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ज्ञान प्रक्रिया में विषय का "अनेकत्व" और "परिवर्तनशीलता" भी उसके सविषयत्व को सिद्ध करती है। अद्वैत वेदान्ती "अनुवर्तमानत्व" (निरन्तर स्थिति) को सत् की कसौटी मानकर ज्ञान के विषय का खण्डन करते हैं। रामानुज ने इस युक्ति का खण्डन किया है कि अद्वैत वेदान्ती "उ नुवर्तमानत्व" तथा " अननुवर्तमानत्व" और बाधक बाध्य में वास्तविक भेद कर पाने में असमर्थ रहे हैं। रामानुज के अनुसार बाधक और बाध्य का सम्बन्ध केवल ऐसे दो पारस्परिक विरोधी ज्ञानों के बीच हो सकता है जहाँ एक की सत्यता दूसरे के मिथ्यात्व को आपादित करती है। बाधित की अनित्यता केवल इन्हीं परिस्थितियों में प्रासंगिक है जबकि हम देखते हैं कि घट पट आदि भिन्न - भिन्न विषय जो कि अपनी-अपनी देशीय स्थिति और कालिक स्थिति के कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक दूसरे से अलग अवश्य हैं किन्तु परस्पर विरोधी नहीं। अतः इनमें बाधक बांध्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। परन्तु दूसरी और जहाँ पर जो वस्तु है वही पर व उसी देश काल में उसका अनस्तित्व भी देखा जाए तो यह परस्पर विरोधी है और ऐसी स्थिति में ही अधिक सुदृढ ज्ञान अपने से निर्बल ज्ञान को खण्डित करता है जिससें वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है तथा रज्जु और सर्प के भ्रम में। किन्तु एक वस्तु जो कि एक देशकाल में देखी जाती है एवम् अन्य देश-काल में उसका अनस्तित्व देखा जाए तो इसमें कोई विरोध नहीं है अतः यहाँ पर परस्पर बाध्य -बाधक को प्रश्न नहीं उठता है वस्तुतः रामानुज का तात्पर्य यही है कि अनस्तित्व असत् या अयथार्थ का कारण नहीं हो सकता है

''यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेना पारमार्थ्यमुक्तम् तदनालोचित बाध्यबाधक भावव्यावृत्यनुवृति विशेषस्य भ्रान्ति परिकल्पितम्। दृश्यतेत्वग्रययाबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः द्वयोर्ज्ञानयोविरोधेहि बाध्य बाधक भाव:। बाधितस्यैव व्यावृत्ति.....। [९]

रामानुज के अनुसार जागृत, स्वप्न, मूर्च्छा अवस्था के अतिरिक्त सुषुप्ति में भी व्यक्ति का अनुभव विषय-सहित ही होता है, क्योंकि जागने के पश्चात वह अनुभव करता है कि ''मै सुखपूर्वक सोया''। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में भी ''अहमर्थतत्त्व'' ज्ञाता के रूप में रहता है तथा ''सुख'' इस अनुभव का विषय होता है।[१०] यह तथ्य शांकर मत के इस सिद्धान्त से भी अनुमित हो जाता है कि निद्रा में आत्मा ''अज्ञान'' का साक्षी रहता है क्योंकि कोई भी ज्ञाता हुए बिना साक्षीरूप में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, ''जो कुछ नहीं जानता'' वह साक्षी नहीं कहला सकता है। रामानुज के अनुसार श्रुति में भी जीव (ज्ञाता) को सांक्षी कहा गया है।''[११]

इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञान प्रक्रिया अनिवार्य रूप से विषय से सम्बन्धित है। यह कहना कि ''मैं चेतन था'' या ''किसी का अनुभव नहीं हुआ'', जैसा कि अद्वैत वेदान्ती मानते हैं, इन दोनों से ही आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त मुक्ति की अवस्था और उसके पश्चात् का अनुभव भी विषय के साथ होता है क्योंकि मुक्ति के पश्चात भी ''अहमर्थ'' तत्त्व शेष रहता है। इस अवस्था में ज्ञानी जीवात्मा का धर्मभूत ज्ञान पूर्ण तथा विस्तृत हो जाता है जिससे वह विषयों को उनके समग्र रूप में प्रकाशित करता है। वस्तुतः मुक्ति जीव के वास्तविक स्वरूप का अबाधित प्रकाशन या साक्षात्कार है जिसमें आनन्द की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्ति होती है। यहाँ "आनन्द" ही ज्ञाता आत्मा के ज्ञान का विषय होता है।[१२]

विषय को ज्ञान से स्वतन्त्र सत्ता एवं प्रत्येक ज्ञान को सविषयक मानकर रामानुज ने ज्ञान और विषय की तद्रूपता का भी खण्डन किया क्योंकि ऐसी अवस्था में कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं होता। परन्तु इन दोनों को पूर्णतया पृथक् और विरोधी भी नहीं माना क्योंकि ऐसी अवस्था में ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) विषय तक पहुँचने में असमर्थ होता और तब भी कोई ज्ञान सम्भव नहीं होता। अतः उन्होंने ज्ञान और विषय, इन दोनों को एक ही परम तत्त्व या सगुण ब्रह्म के गुण माना। विषय सगुण ब्रह्म के अचित् तत्त्व का विकार है जबकि ज्ञान ब्रह्म और उसके चित्त तत्त्व (आत्मा) का गुण है। यह एक ऐसा गुण है जो न तो जड है और न ही चेतन है। ज्ञान पराक् (जिसकी सत्ता दूसरों के लिए हो) अजड (स्वयंप्रकाश) द्रव्य[१३] है। अतः वह अजड जीव के साथ उसके गुण के रूप में जुड सकता है। दूसरी ओर आत्म चेतना से रहित होने पर वह विषय से भी सादृश्यता रखता है अतः विषय से जुडने में भी कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार रामानुज के दर्शन में ज्ञान की ज्ञेय व ज्ञाता से सम्बद्धता की व्याख्या अपेक्षाकृत सरल हो जाती है।

इसी के सन्दर्भ में एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या धर्मभूत ज्ञान की भाँति स्वरूपभूत ज्ञान, जिससे ब्रह्म तथा आत्मा का स्वरूप निर्धारित होता है, भी सविषयक तथा सविशेष ही होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में एक कठिनाई यह भी है कि रामानुज ने सारभूत ज्ञान के सन्दर्भ में इस तथ्य को स्पष्ट नहीं किया है। इसीलिए रामानुज के मत पर यह आक्षेप किया जाता रहा है कि उन्होंने ज्ञान को गुण और स्वरूप दोनो मानकर एक विरोधाभास को जन्म दिया है और यह विरोधाभास तभी समाप्त किया जा सकता है जबकि धर्मभूत ज्ञान को आत्माका गुण तथा सारभूत ज्ञान को "विषयरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूपता" के अर्थ में स्वीकार किया जाए। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन को ही ध्वस्त कर देती है। अतः विशिष्टाद्वैत की रक्षा लिए सारभूत ज्ञान को सविशेष-सविषयक मानना आवश्यक है। रामानुज ने जिस प्रकार से शांकर मत के निर्विशेषत्व व निर्विषयत्व का खण्डन किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने सारभूत ज्ञान को भी सविशेष व सविषयक ही माना है। रामानुज के अनुसार शास्त्रों में जहाँ कहीं भी ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप कहा गया है तो उससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि यह ज्ञान स्वरूपता निर्गुण और निर्विशेष है क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान-स्वरूप होने के कारण वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है जिस प्रकार कि दीप, जो प्रकाश स्वरूप है, वह प्रकाश रश्मिवान् भी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में डा. इन्दुभूषण पाण्डे [१४] का भी मानना है कि सारभूत ज्ञान, निर्विशेष नहीं हो सकता है क्योंकि रामानुज की मान्यता है कि ज्ञान कभी भी निराश्रय नहीं होता है वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त होता है अतः कोई भी सत्ता जो ज्ञानमय है, निर्विशेष नहीं है।

ज्ञान स्वरूप आत्मा ऐसा अजड अहमर्थ तत्त्व है जो अपनी सत्ता मात्र से अपने प्रति प्रकाश रूप सिद्ध होता है। ज्ञाता आत्मा प्रकाशक है प्रकाश्य नहीं। यह प्रकाश ही उसका स्वरूप या सारभूत ज्ञान है जिसे ब्रह्म व आत्मा का स्वरूप निरूपक धर्म [१५] भी कहा गया है।

यहाँ एक कठिनाई यह भी हो सकती है कि स्वयंप्रकाश ज्ञाता आत्मा के प्रकाश (स्वरूपभूत ज्ञान) का विषय क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मा ही इस ज्ञान का विषय है जिसे आत्म-चेतना या स्वयं-बोध के रूप में जाना जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, धर्मभूत ज्ञान का विषय समस्त अचित् पदार्थ है जिससे आत्मा को विषयोंके सम्बन्ध में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की उपलब्धि होती है जबकि सारभूत ज्ञान का विषय स्वयं आत्मा ही है। इस प्रकार दोनों ही सविशेष हैं। सारभूत ज्ञान संकोच-विकास की क्रिया से रहित नित्यनिर्विकार आत्मा का स्वयं का ज्ञान है अतः सविषयक होते हुए भी इससे नित्य आत्मा का अपरिणामी स्वरूप विकृत नहीं होता है।

निष्कर्ष रूप में, रामानुज मानते हैं कि ज्ञान का ज्ञान या तो किसी विषय के साथ होता है अथवा बिलकुल नहीं होता है। सुषुप्ति में में जीव आत्म चेतन बना राहता है। स्वप्नावस्था में जीव जिन विषयों का अनुभव करता है वे वास्तव में ईश्वर द्वारा उसके भोग-फलार्थ क्षणिक अवधि के लिए सृष्ट किए जाते हैं। इस अवस्था में ज्ञान का भी ज्ञान रहता है। यद्यापि वह जाग्रत अवस्था के ज्ञान के समान स्पष्ट नहीं होता है। मोक्षावस्था में ज्ञान का विषय ईश्वर का दिव्य वैभव होता है ज़िसमें ईश्वर के गुणों के साथ-साथ सत् का भी निर्दोष ज्ञान होता है।

१६-बी ओल्ड गोलीबार मैदान, डॉ. श्रीमती अन्नेकँवर
पुना -४०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. यतीन्द्रमत दीपिका, अध्याय सात
२. श्रीभाष्य, १, १, १
३. वही, २, ३, २९
४. वही, १, १, १
५. वही, १, १, १
६. वही, १, १, १
७. वही, १, १, १
८. वही, १, १, १
९. वही, १, १, १
१०. वही, १, १, १
११. वही, १, १, १
१२. वही, १, १, १
१३. रामानुज ने ज्ञान को गुण के साथ-साथ द्रव्य भी माना है।
१४. भारतीय दर्शन, संपादक नन्द किशोर देवराज, पृष्ट ५५७
१५. विशिष्टाँद्वैत परम्परा में श्री. बल, वीर्य, तेज, ज्ञान, ऐश्वर्य, सर्वसंकल्पत्व एवम् "अपहतपाप्मत्वं" परम सत्ता के स्वरूप निरूपक धर्म या "गुणाष्टक" कहे जाते हैं। इस गुणाष्टक में ज्ञान का तात्पर्य सारभूत ज्ञान से ही होना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षणभंगवाद और ज्ञान की समस्या

क्षणभंगवाद बौद्धों का धुरी सिद्धात है जिस पर उनके ज्ञान सम्बन्ध एवं अनात्मवाद आदि अन्य सिद्धान्त आधारित हैं। प्रस्तुत निबन्ध में प्रमुखतः सौत्रान्तिक एवं बौद्ध तार्किकों के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त पर विचार किया गया है।[१]

बौद्ध क्षणिकता को सत् की अनिवार्य अवस्था बतलाते हैं -यत् सत् तत् क्षणिकम्.. क्षण वस्तु की कालरहित (durationless) इकाई है। प्रत्येक वस्तु -बाह्यार्थ अथवा विज्ञान, विषय अथवा विषयी दोनों ही क्षण मात्र हैं। प्रत्येक परवर्तीक्षण अपने पूर्ववती क्षण से नितान्त भिन्न तथा असंबद्ध है "यह घट है" इस घट ज्ञान में जिस "घट-क्षण" का ज्ञान होता है तथा जिस "विज्ञान-क्षण" का ज्ञान होता है, दोनों ही तत्क्षण नष्ट हो चुके होते हैं अतः यह प्रश्न उठने स्वाभाविक ही है कि ज्ञान "किसका" होता है ? तथा किसे होता है ? इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार करने से पूर्व बौद्धों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप जानना अपेक्षित है।

बौद्ध तार्किक दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान स्वयं-प्रकाश है।[२] डॉ. नगीन जे. शाह के अनुसार सर्वप्रथम दिङनाग ने ही ज्ञान को स्वप्रकाशक बतलाया है।[३] वे विषयाकार ज्ञान को प्रभा कहते हैं। धर्मकीर्ति कुछ विस्तार से प्रभा को परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार "यथार्थ ज्ञान अविसंवादी तथा प्रयोजन का साधक है।[४] ज्ञान वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु उसकी ओर इंगित करता है। जिस विशेष प्रयोजन के लिए व्यक्ति वस्तु विशेष की ओर उन्मुख होता है और ज्ञान जब उस वस्तु विशेष को प्रकाशित कर देता है तो वह ज्ञान प्रयोजन में सफल अथवा अर्थ क्रिया समर्थ माना जाता है किन्तु जब कोई ज्ञान दूध की अपेक्षा रखने वाले व्यक्ति को छाछ की ओर अग्रसर करता है तो पुरुषार्थ-सिद्धि न कराने वाला वह ज्ञान प्रभा नहीं कहलाता है। यहाँ बौद्धों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्षणभंगवाद को मानते हुए ज्ञान व क्रिया में सामंजस्य कैसे बैठ सकता है ? ज्ञान जिस वस्तु की ओर इंगित करता है क्रिया उस वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में ज्ञान का क्षण पूर्ववर्ती है तथा क्रिया का क्षण उत्तरवर्ती है। जिस वस्तु का ज्ञान होता वह क्रिया के क्षण में नष्ट हो चुकी होती है। ऐसी अवस्था में प्रयोजन साफल्य की बात करना युक्तियुक्त नहीं माना जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता। धर्मोत्तर इस समस्या के समाधानार्थ व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब हम व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान अथवा वस्तु की चर्चा करते हैं तब क्षण अपेक्षा (moment-continuum) से न करके सन्तान अपेक्षा -(object-continuum) की अपेक्षा से करते हैं।[५] बौद्धों का विचार है कि यद्यपि क्षणों में परस्पर भिन्नता होती है तथापि उनमें एक प्रकार का तारतम्य (co-ordination) अथवा निर्बाध नैरन्तर्य (gapless contiuity) रहता है।[६] इसी निर्बाध नैरन्तर्य के कारण परस्पर भिन्न क्षणों में एकात्मकता (uniformity) का आभास होता है। क्षणों की इसी आभासित एकात्मकता को बौद्ध श्रृंखला या सन्तान कहते हैं। वस्तु का अर्थ है क्षणों की निर्बाध श्रृंखला या सन्तान धर्मोत्तर का कथन है कि जब किसी वस्तु यथा "घट" के ज्ञान की बात करते हैं तो वह एक क्षण के सन्दर्भ में न होकर क्षणों की निर्बाध सन्तान की अपेक्षा से होती है। घट-ज्ञान जन्य क्रिया भी क्षण-अपेक्षा से न होकर सन्तान अपेक्षा से ही होती है। सन्तान -अपेक्षा से ज्ञान व क्रिया सामंजस्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

परन्तु बात इतनी आसान नहीं है, सन्तान की बात करने पर कुछ नए प्रश्न उठ खडे होते हैं। किसी श्रृंखला या सन्तान यथा घट सन्तान में क्या मात्र कालिक नैरन्तर्य (temporal contiguity) ही है अथवा गुणात्मक नैरन्तर्य (qualitative contiguity) भी है? बौद्ध यदि प्रथम विकल्प ही स्वीकार करते हैं अर्थात वे किसी सन्तान में मात्र निर्बाध कालिक नैरन्तर्य (gapless temporal contiguity) में ही विश्वास करते हैं तो वे एक सन्तान विशेष के ज्ञान को दूसरी सन्तान विशेष के ज्ञान से कैसे भिन्न करेंगे? घट-सन्तान के ज्ञान व पट सन्तान के ज्ञान में परस्पर पर किस आधार पर भेद करना सम्भव होगा? कालिक नैरन्तर्य दोनो सन्तानों में समान होने कारण यह भेदक नहीं हो सकता। समस्या के समाधान के लिए दूसरा विकल्प स्वीकार किया जा सकता है अर्थात् यह स्वीकार किया जा सकता है कि घट सन्तान में एक प्रकार का गुणात्मक नैरन्तर्य है। तथा पट सन्तान में दूसरे प्रकार का गुणात्मक नैरन्तर्य है जिसके आधार पर दोनों सन्तानों में भेद किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य सन्तानों में भी भेद करना सम्भव होता है किन्तु यह विकल्प स्वीकार करने पर बौद्धों का क्षणभंगवाद दुष्प्रभावित होता है। सन्तान में गुणात्मक नैरन्तर्य स्वीकार कर लेने पर क्षणों की पारस्परिक भिन्नता और असम्बद्धता के विचार को त्यागना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पड़ेगा। गुणात्मक नैरन्तर्य तभी सम्भव है जब एक सन्तान के क्षणो में किसी न किसी प्रकार की सादृश्यता को स्वीकार किया जाए किन्तु सादृश्यता मानने पर पूर्व क्षण में तथा उत्तरवर्ती क्षण में नितान्त भिन्नता तथा असम्बद्धता नहीं रह सकती। सादृश्यता का कम से कम इतना अर्थ तो लगाना ही पड़ेगा कि किसी सन्तान के विभिन्न क्षणों में 'कुछ ऐसा' अवश्य रहता है जो अन्त तक एक सा बना रहता है अर्थात वह "कुछ" परिवर्तित नहीं होता। क्षणभंगवादी बौद्ध इस विकल्प को स्वीकार नहीं कर सकते। यों भी बौद्ध क्षणों में निर्बाध कालिक नैरन्तर्य (gapless temporal contiguity) ही स्वीकार करते हैं उनके अनुसार यह निर्बाध कालिक नैरन्तर्य ही गुणात्मक नैरन्तर्य(qualitative contiguity) का आभास देता है। कालिक नैरन्तर्य वास्तविक है। गुणात्मक नैरन्तर्य व्यावहारिक है। यही नहीं सन्तान, वस्तु, एकात्मकता, सम्बद्धता ये सब व्यावहारिक हैं मात्र "क्षण यथार्थ है, "क्षण" स्वलक्षण स्वभाव का है, अर्थात् यह अद्वितीय (unique) है। प्रत्येक उत्तरवर्ती क्षण पूर्ववर्ती क्षण से अनिवार्यतः भिन्न है।

क्षणों की पारस्परिक भिन्नता धर्मकीर्ति द्वारा प्रभा को नवीन अर्थात् अनधिगत बतलाने से भी स्पष्ट हो जाती है। धर्मकीर्ति अविसंवादी, अर्थ क्रियावान (पुरुषार्थ सिद्धि प्रयोजन) के साथ -साथ अनधिगत लक्षण वाले ज्ञान को प्रभा कहते हैं। ज्ञान की नवीनता या अनधिगतता स्वलक्षण की अपेक्षा से ही हो सकती है, सामान्य-लक्षण अपेक्षा से नहीं। स्वलक्षण ही सही अर्थों में क्षणिक एवं अद्वितीय होने के कारण ज्ञान के क्षण में पूर्व अग्रहीत अर्थात अनधिगत कहा जा सकता है।[७] बौद्ध परमार्थ और व्यवहार में भेद करते हैं। स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। स्वलक्षण ही क्षणिक, अद्वितीय और असम्बद्ध है। असम्बन्धों का जगत् व्यावहारिक सत् है। यहाँ क्षण सन्तान के रूप में भासित होते हुए अपेक्षाकृत स्थायी वस्तु के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तु की एकात्मकता तथा ज्ञाता की वैयक्तिकता व्यवहार सत् है परमार्थ सत् नहीं। परमार्थ और व्यवहार ये दो नितान्त भिन्न प्रमेय हैं जिसका ज्ञान भी दो भिन्न प्रमाणों से होता है। परमार्थ स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है तथा व्यवहार सामान्य लक्षण अनुमान का विषय है।[८] इन दोनों तथा प्रमाणों के बीच एक सुस्पष्ट विभाज्य रेखा खींचीत रहती है जिसका कभी उल्लंघन नहीं होता। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण विकल्प में न केवल सुस्पष्ट अनुल्लंघनीय भेद है अपितु दोनो में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी नहीं है। बौद्धों का यह प्रमाण-विल्पव सिद्धान्त उनके क्षणभंगवाद से ही अनुसरित है।

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से सर्वथा रहित होता है, (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं) प्रत्यक्ष वह यथार्थ ज्ञान है जो नाम, जाति आदि से रहित है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष प्रत्येक प्रकार की वाचिक अभिव्यक्ति (verbal expression) से रहित है। स्पष्ट है यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ही लिया जाना चाहिए, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही निर्विकल्पक स्वलक्षण को ग्रहण करता है। स्वलक्षण भी नाम, जाति अथवा यों कहें कि समस्त वाचिक अभिव्यक्ति से रहित होता है निर्विकल्पक ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञान यथा सविल्पक एवं अनुमान आदि कल्पना या विकल्प की कोटि में ही आते हैं। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति कल्पना को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञान शाब्दिक अभिव्यक्ति के साथ संयुक्त होने योग्य होता है वह कल्पना कहलाता है। (अभिलाप संसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीति : कल्पना) यहाँ द्रष्टव्य है कि कल्पना या प्रत्ययात्मक ज्ञान भ्रम की भाँति भ्रान्त ज्ञान नहीं है। कल्पना का स्रोत भी संवेद्य निर्विकल्पक और कल्पना में भेद यह है कि एक समस्त शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित परमार्थ सत् का ज्ञान है जब कि कल्पना नाम, जाति से संयुक्त व्यावहारिक सत् का ज्ञान है। कल्पना में भूत के अनुभव को स्मृति रूप से वर्तमान अनुभव से सम्बद्ध किया जाता है, कल्पना या विकल्प सम्बन्धात्मक व वाचिक अभिव्यक्ति से युक्त होने कारण प्रामाणिक ज्ञान नहीं है क्योंकि सत्ता का स्वरूप असम्बन्धात्मक तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित है। अतः कल्पना के द्वारा सत्ता के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। इन्द्रिय संवेदन के साथ जब तक व्यक्ताव्यक्त रूप से शब्द संयुक्त नहीं होता तब तक वह निर्विकल्पक ही रहता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान ही विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने में समर्थ होता है। अतएव निर्विकल्पक ही प्रामाणिक ज्ञान है तथा स्वलक्षण ही परमार्थ सत्ता है। विकल्प या कल्पना के पाँच भेद है -जाति, गुण, कर्म, नाम एवं द्रव्य। इन पाँचो में से किसी की भी वास्तविक सत्ता नहीं है अपितु ये मानसिक संरचना (mental construction) है इसीलिए जात्यादि पंच भेदात्मक विकल्प अभूतार्थ है। कल्पना या विकल्प का स्वरूप सामान्य रूपात्मक (universal form) है। फलतः इसका प्रयोग यह बतलाता है कि व्यक्तियों में कोई समान जाति होनी चाहिए किन्तु जाति अवास्तविक या अभूतार्थ है। इन्द्रिय संवेदन प्राप्त करते ही भूत के अनुभव की स्मृति स्वरूप जाति नाम उद्भूत होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है जिसके फलस्वरूप विकल्प (generalized form) का अंकन होता है। वाचस्पति मिश्र न्याय वार्तिक टीका में दिङ्नाग को उद्धृत करते हैं - "शब्दों का स्रोत विकल्प है तथा विकल्प का स्रोत शब्द है। ये परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध से जुडे हैं। शब्द कभी वास्तविकता का स्पर्श नहीं कर पाते।[९]

सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार वस्तु या आलम्बन अपने ज्ञान का कारण होता है, कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है। अतः ज्ञान की वस्तु ज्ञान से निस्सन्देह पूर्ववर्ती है। परन्तु क्षणिक होने के नाते वस्तु तो एक ही क्षण में उत्पन्न होने के साथ नष्ट भी हो जाती है तब उसका ज्ञान कैसे सम्भव है ? न्याय बिन्दु टीका में सौत्रान्तिकों की इस कठिनाई की ओर संकेत भी किया गया है। -क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्। इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान में उस वस्तु की प्रतिमा उभरती है जिसका अब अस्तित्व नहीं रहा।[१०] इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु विज्ञान के सम्पर्क में आती है। फलस्वरूप वस्तु और विज्ञान का बहुत गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दोनों ही को किसी न किसी रूप में अपना स्वातन्त्र्य छोडना पडता है। शुद्ध विज्ञान वस्तु के सम्पर्क में आने के बाद शुद्ध विज्ञान न रह कर वस्तु के वैविध्य के अनुसार घट चेतना या पट चेतना हो जाती है। उसी प्रकार वस्तु भी वस्तुगत तथ्य मात्र न रहकर चेतना का विषय हो जाती है। वस्तु और विज्ञान का यह गहरा सम्बन्ध केवल निमित्त कारण और कार्य की तरह का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि निमित्त कारण और कार्य दोनों में विभिन्नता बनी रहती है। जब कि वस्तु तो विज्ञान का एक अंग ही बन जाती है। अतः बाह्य उन दोनों का सम्बन्ध तद्रूपता का सम्बन्ध बन जाता है किन्तु जडवस्तु में और विज्ञान में तद्रूपता कैसे सम्भव हो जाती है ? वस्तुतः वस्तु विज्ञान पर हूबहू अपनी प्रतिमा अंकित करती है यह वस्तु-प्रतिमा विज्ञान का अभिन्न अंग बन जाती है। विज्ञान इसी वस्तु-प्रतिमा से साथ साक्षात् सम्पर्क में आता है। दूसरे शब्दों में वस्तु-प्रतिमा ही ज्ञान का साक्षात् कारण है। बाह्य वस्तु को इसी वस्तु-प्रतिमा के माध्यम से जाना जाता है। यह वस्तु-प्रतिमा बाह्य वस्तु के ही स्वरूप वाली होने के कारण उसका प्रमाणिक प्रतिनिधित्व करती है। वस्तु-प्रतिमा की ही विज्ञान के साथ तद्रूपता होती है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि विज्ञान योगाचारियों के मत की भाँति विषय और विषयी में विभक्त नहीं होता है अपितु ज्ञान का आलम्बन बाह्यार्थ विज्ञान से बाहर स्थित वस्तु ही होता है। यह बाह्यार्थ ही इन्द्रिय संवेदन के माध्यम से विज्ञान में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding JKS-MoE-Grant-2

अपनी प्रतिमा अंकित करता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं। उनके अनुसार एक ही क्षण में वस्तु का उद्‌भव एवं तिरोभाव हो जाता है। कारणक्षण तथा कार्यक्षण समकालीन न होकर पूर्वापर होते हैं। कारण क्षण के नष्ट होते ही कार्य क्षण उत्पन्न हो जाता है। कारण की सत्ता मात्र से कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। क्योंकि सत्ता का अर्थ ही अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य या कार्योत्पाद व्यापार है। जिस क्षण में वस्तु इन्द्रिय सम्पर्क में आती है उसी क्षण वह नष्ट हो जाती है। फलतः वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो पाता है। जब दूसरे क्षण विज्ञान के उस वस्तु की प्रतिमा अंकित होती है तब उस वस्तु-प्रतिमा के साक्षात् प्रत्यक्ष के आधार पर वस्तु का अनुमान होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि विज्ञान का वस्तु-प्रतिमा के साथ साक्षात् सम्पर्क दूसरे क्षण में होता है। जबकि वस्तु प्रथम क्षण में ही नष्ट हो चुकी होती है। ऐसी अवस्था में यह किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है कि वस्तु-प्रतिमा बाह्यार्थ का प्रमाणिक प्रतिनिधित्व करती है ? वस्तु तो विकल्प है, व्यवहार है, परमार्थ नहीं। परमार्थ तो वस्तु क्षण अथवा स्वलक्षण ही है जो परस्पर भिन्न, असम्बद्ध व अद्वितीय है। अतः वस्तु क्षण के नष्ट होने के उपरान्त उत्पन्न होने वाली वस्तु-प्रतिमा की प्रामाणिकता जानने का कोई साधन नहीं है। बाह्यर्थवादी सौत्रान्तिकों के विरुद्ध एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है। अ, ब, स, द, आदि परस्पर भिन्न सन्तानों में गुण रहित कालिक नैरन्तर्य गुणात्मक नैरन्तर्य का आभास कैसे दे सकता है ? यदि वे गुणात्मक नैरन्तर्य को अनादि वासना का प्रतिफल मानते हैं तो उनका बाह्यार्थ मानने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। सौत्रान्तिकों के समक्ष उत्पन्न हुई यह कठिनाई अन्ततोगत्वा विज्ञानवाद का मार्ग प्रशस्त करती है जो बाह्यार्थ को अस्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो. अशोक कुमार चटर्जी का यह मत उपयुक्त ही है कि ''योगाचार का आदर्शवाद सौत्रान्तिकों के तर्कशास्त्र व ज्ञान मीमांमा की अपूर्वता को दूर करने के प्रयास का ही प्रतिफल है।[11]

डॉ. शिवनारायण जोशी
सह आचार्य एवं अध्यक्ष -दर्शन विभाग
जयनारायण व्यास विश्व विद्यालय
जोधपुर (राज)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon:

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. बौद्ध तार्किक तथा सौत्रान्तिक दोनों सत् को क्षण मात्र मानते हैं तथापि दोनों में प्रमुख भेद यह है कि बौद्ध तार्किक सौत्रान्तिकों की भाँति बाह्यार्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार क्षणिक विज्ञान ही परमार्थ सत् है विज्ञान "क्षण मात्र है विज्ञान ही स्वलक्षण है। देखिए "भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन पृ. १२३-१२४, लेखक प्रो. चन्द्रधर शर्मा।

२. प्रमाण समुच्चय - I१०

३. Dr. Nagin J. Shah, " Aklanka's criticism of Dharmakirti's Philosophy" P. 188, Pub. L. D. Institute of Indology.

४. Stcherbatsky " Buddhist Logic" Vol. II P. 4 Dover Pub. New York.

५. "किन्तु क्षणापेक्षया न प्रामाण्यं क्षणम् उच्यते, अपि तु सन्तानापेक्षया" - न्यायाबिन्दु टिप्पणी पृ. ११.

६. तत्त्वसंग्रह में इसे आनन्तर्य नियम बतलाया है "य आनन्तर्य नियम : सैवापक्षाऽभिधीयते" तत्त्व संग्रह का. ५२१

७. "-अविज्ञाते स्वलक्षणे यज्ज्ञानम् इति अभिप्रायात्" - प्रमाणवार्तिक I ८

८. "स्वलक्षण विषयं हि प्रत्यक्षं सामान्यलक्षण विषयं अनुमान इति" प्रमाण वार्तिक भाष्य १६ ब

९. विकल्प योनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोयमः कार्यकारणता तेषां नार्थम् शब्दा स्पृशन्ति अपि - न्यायवर्तिक टीका पृ. ६८

१०. "न अविद्यामानस्य स्वरूपेण दर्शनम हेतुत्वेन च ज्ञानात् पूर्वत्वं पूर्वत्वे च क्षणिकतया न ज्ञान काले अस्तिताः" प्रज्ञाकरगुप्त-प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २४३

११. Ashok Kumar Chatterjee " Yogacar Idealism" P. 19. Pub. MLBD 1975.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८डिमाई साईज	एकअंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था /प्रकाशन/ उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें-

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्यार्थ-विचार : भर्तृहरि के सन्दर्भ में

वैयाकरणों की परम्परा में मुनित्रय पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि के बाद जिनका नाम बडे आदर तथा सम्मान से लिया जाता है, वे हैं आचार्य भर्तृहरि। उनकी पुस्तक "वाक्यपदीय" भाषा विज्ञान तथा भाषा तत्त्व की अपूर्व कृति है जिसमें वाक्य और पद के विषय में व्यापक विचार -विमर्श किया गया है (वाक्यं च पदं च वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम् ।।)। वाक्यपदीयकार ने जिस मौलिक तथा नवीन दृष्टिकोण को लेकर विषयों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। "वाक्यपदीय" के द्वितीय खण्ड में वाक्य विचार, वाक्यार्थ विचार आदि पुष्पित और पल्लवित हुआ है। अतः प्रस्तुत शोध -पत्र में वाक्यार्थ -विचार के विभिन्न पहलुओं को "वाक्यपदीय" के आधार पर रेखांकित करने का प्रयत्न करेंगे ताकि वाक्यार्थ-विचार की प्रमाणमीमांसीय व्याख्या स्पष्ट हो सके तथा "पद-वाक्य प्रमाणज्ञ" के रूप में आचार्य भर्तृहरि का स्थान निरूपित हो सके।

वाक् की इकाई वाक्य है।

आचार्य भर्तृहरि ने वाक् की अविभाज्य और सर्वतः पूर्ण इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया है।[१] यहाँ वाक् का अर्थ वाणी और वाक्य का तात्पर्य उसकी अविभाज्य पूर्ण इकाई से है। उनके पूर्व भारतीय विचारकों ने वाक्य के सम्बन्ध में आठ विविध मत स्वीकार कर लिए थे। भर्तृहरि केवल उन सिद्धान्तों से ही परिचित नहीं थे, बल्कि उन्होंने उनका पूरा-पूरा विश्लेषण किया। उन्होंने सिद्धान्तों को दो वर्गों में विभाजित किया-खण्ड पक्ष तथा अखण्ड पक्ष। खण्ड पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने केवल अख्यातशब्द, क्रम, संघात, आद्यपद और पृथक् सर्वपद साकांक्ष पाँच मतों को रखा है तथा यह बतलाया है कि वाक्य के सभी खण्ड व्यावहारिक कल्पना मात्र है, विश्लेषण की गहराई में वे सही और सत्य नहीं ठहरते।[२] इसके विपरीत, अखण्ड पक्ष में उन्होंने तीन अर्थात् संघातवर्तिनीजाति, एक अनवयव शब्द तथा बुद्धयनुसंघ्यति विचारों का उल्लेख कर यह स्पष्ट किया है कि वाक् की मूल इकाई वाक्य ही ठहरती है, चाहे हम अर्थ की दृष्टि से देखें, चाहे भावना की दृष्टि से और चाहे रचना की दृष्टि से। यह इकाई तीनों ही दृष्टियों से एक और अविभाज्य सिद्ध होती है। उनके शब्दों में "यह सर्वथा निराकांक्ष और स्वतःपूर्ण होता है, फिर भले ही यह एक वर्ण के रूप में क्यों न हो। वाक्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का उद्देश्य स्वयं वाक् के उद्देश्य से अभिन्न है : एक बुद्धि की भावना को दूसरी बुद्धि का विषय बना देना। यह भावना यदि वर्ण से ही पूरी हो जाए तो फिर शब्दों की सार्थकता या निरर्थकता, अथवा पद-भेद आदि की बात पर विचार करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।" [२]

भर्तृहरि की यह धारणा स्वयं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इससे एक नई व्याख्या प्रस्तुत होती है जिसका समर्थन आधुनिक दृष्टि से भी किया जा सकता है। गार्डिनर के शब्दों में "वाक्य उस शब्द या शब्द-समूह को कहते हैं, जिससे किसी अभिधेय को पूर्ण-अभिव्यक्ति मिलती है"।[३] पुनः उनका विचार है "वाक्य उस पूर्ण अभिव्यक्ति को कहते हैं जिसके बाद वक्ता शान्त हो जाता है"।[४] गार्डिनर की इस परिभाषा का समर्थन एक अज्ञात अरब वैयाकरण की इस परिभाषा से भी होता है "वाक्य वह है जिसके बाद चुप रह जाना ही उचित प्रतीत होता है"।[५] भर्तृहरि ने इसे "प्राप्तरूप-विभागाया : यो वाच : परमो रस :[६] के रूप में कहा है। येस्पर्सन के अनुसार " निराकांक्ष मानुषी अभिव्यक्ति को वाक्य कहते हैं"।[७] गार्डिनर की प्रथम परिभाषा तथा येस्पर्सन की इस उक्ति का भर्तृहरि की "निराकांक्षस्य सर्वतः" की उक्ति से पूर्ण मेल बैठता है। भर्तृहरि की उपलब्धि आज के भाषातत्त्व की दृष्टि से भी पूर्ण तथा निर्दोष है, वह कुछ अधिक वैज्ञानिक ही है।

वाक्य से अभिन्न वाक्यार्थ है

वाक्य विचार को समझ लेने के बाद "वाक्यर्थ" के विषय में भर्तृहरि की धारणा स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। वस्तुत : "वाक्य" ही भर्तृहरिकृत परिभाषा के मूल में उनकी यह "वाक्यार्थ भावना" ही काम कर रही है। "एकोऽर्थ : शब्दवाच्यत्वे बहुरूप : प्रकाशते"[९] के रूप में भर्तृहरि ने इस "वाक्यार्थ" को ही एक और अविभाज्य "वागर्थ" कहा है। वाक्य को "अपद" "अक्रम" कहने का कारण भी अर्थ (वाक्यार्थ) की यह अविभाज्यता ही है। सच तो यह है कि भर्तृहरि की सम्पूर्ण वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चेतना जिस सापेक्षिक सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है उसमें काल, भाव, सत्ता आदि के अभाव अथवा तज्जन्य विभाग आदि को मानने का अवकाश ही नहीं रहता। इस युक्ति के अनुसार नित्यता-अनित्यता अथवा एकत्व का निर्माण प्रायोगिक सापेक्षता पर निर्भर है। उच्चारण-काल, व्यक्तिगत सत्ता या भाव की सीमा के कारण वक्ता के एक ही अभिधेय या वक्तव्य को "पद" अथवा "पदार्थ" के रूप में खण्ड-खण्ड मान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बैठना अनुचित है। व्यावहारिक सुविधा के लिए इसे भले ही मान लिया जाए, किन्तु इस प्रकार की पदार्थ-कल्पना की स्थिति न तो दार्शनिक युक्तिक्रम से सिद्ध की जा सकती है, न वैज्ञानिक युक्तिक्रम से। दार्शनिक युक्तिक्रम में "वक्ता की इच्छा" की विभाज्यता-अविभाज्यता को आधार मानना होगा और वैज्ञानिक युक्तिक्रम में प्रत्यक्ष दिखनेवाले पदों की प्रत्यय संयोगजन्य पराश्रितता एवं "अंगभाव" का ध्यान रखना होगा। अतः दोनों ही दृष्टियों से वक्तव्य एक और अविच्छेद्य है। "पदों" का विभाग इस "अविभक्त" को ही कहने का साधन मात्र है। परन्तु उसी कारण उन पदों को पृथक-पृथक अर्थों का वाहक मान बैठना अनुचित होगा। "अर्थ" किसी भाव या सत्ता पर आधारित रहता है। एक ही क्षण में एक ही वस्तु की दो "सत्ताएं" या "स्थितियां" स्वीकार करना दर्शन और विद्वान दोनों की धारणा के विपरीत है। इसलिए भर्तृहरि "वाक्य" और "वाक्यार्थ" को एक और अविभाज्य इकाई स्वीकार करते हैं।

वाक्यार्थ के लिए योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति की मान्यता अनावश्यक है

विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण" में वाक्य की आवश्यक शर्त योग्यता, आकांक्षा एवं आसक्ति को माना है।[९] प्रत्यक्षत : वे "अभिहितान्वयवाद" से प्रभावित है[१०] तथा वाक्य विषयक "संघात-मत" के समर्थक हैं। योग्यता का अर्थ स्वाभाविक अनुकूलता या परस्पर सहवर्तिता की सामर्थ्य से है। योग का अर्थ है "सम्बन्ध" और सम्बन्ध की प्रवृत्ति और स्वाभाविक अनुकूलता ही योग्यता है। आकांक्षा का अर्थ है "पूर्णता-प्राप्ति की चाह"। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक ही वाक्य में स्थित पदों में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक योग्यता होनी चाहिए, वहाँ उनमें एक दूसरे से मिलकर पूर्ण होने की भावना होनी चाहिए। "आसक्ति" का अर्थ उन पदों की समकालिक सहस्थिति से है। विश्वनाथ द्वारा उक्त ये तीनों विशेषताएं "वाक्य" और "वाक्यार्थ", "पद" और "पदार्थ" दोनों पर समान रूप से लागू होती हैं। परन्तु वाक्य किसी बाह्य रचना का नाम नहीं है। यदि एक पद या वर्ण भी वाक्य द्वारा अभिहित भावना अभिधेय को स्पष्ट करने में समर्थ हो जाता है तो वह वाक्य ही कहलाता है।[११] ऐसे वाक्यों में योग्यता और आसक्ति -दोनों ही महत्वहीन हो जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि ऐसे पद या किसी पूर्ण अर्थ की प्रतीति से पूर्व हमें उस पद के अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य पदों के अर्थो का भी आश्रय लेना पडता है। इस प्रकार, वाक्य-रचना और वाक्यार्थ प्रतीति में वे "अप्रयुक्तपद" भी अवयवभूत गिने ही जाने चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु सत्य यह है कि न तो वक्ता ही ऐसे आवश्यक पदों को प्रयोग करना अनिवार्य मानता है और न ही अर्थ प्रतीति से पूर्व श्रोता को किसी अतिरिक्त पद-कल्पना की संभावना रहती है। वक्ता और श्रोता दोनों ही एक विशिष्ट स्थिति में होते हैं। वक्ता की बात को श्रोता स्वतः ही उच्चारण समकाल में ही समझ जाता है। उसके लिए "पद" या "पदार्थ" रूप में किसी अलग वस्तु की कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि उस प्रकार की कल्पना का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाए तब स्फोट सिद्धान्त का आधार ही स्थिर नहीं रहता। भर्तृहरि ने इस प्रकार की कल्पना को "व्यावहारिकता" "ग्रहीता की आसक्ति" कहा है। अध्ययन अथवा समझने-समझाने की सुविधा के लिए योग्यता, आकांक्षा, आसक्ति आदि की स्थिति को भले ही स्वीकार कर लें, उनकी वास्तविक स्थिति व उपयोगिता प्रतिपत्ता और प्रयोक्ता में से किसी के लिए न है और न उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।[१२] अतः वाक्यार्थ के तथाकथित निर्माण या समुच्चय के लिए कोई शर्त स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिए अभिहितान्वयवाद या अन्विताभिधानवाद में स्वीकृत पदार्थों की पृथक सत्ता की कल्पना किसी भी रूप में अग्राह्य एवं अस्वीकार्य ही रहनी चाहिए।

प्रतिमा ही वाक्यार्थ है

वाक्यार्थ के शर्तों की संभावनाओं के निराकरण के बाद भर्तृहरि प्रतिभा अर्थात बुद्धि को ही वाक्यार्थ का मूल स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जब हम किसी वाक्य को पदों में विभक्त करके उसे समझने का प्रयत्न करते हैं तब उन खण्डांशों द्वारा उत्पन्न प्रतिभा खण्डित-सी प्रतीत होती है। इसलिए उसमें वाक्यार्थ-सी एकत्ववृत्ति उत्पन्न न होकर खण्डात्मक प्रतीति की उपलब्धि होती है। वास्तव में वाक्यार्थ की एकता जगते ही पदार्थों की विविधता डूब जाती है। सब पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व मिटकर ही एक नई अखण्डता का जन्म होता है। इसे ही हम वाक्यार्थ या प्रतिभा कहते हैं। इस प्रतिभा की व्याख्या या इसका निरूपण किन्हीं अन्य शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसे विभक्त करके देखने की प्रवृत्ति तो वक्ता या प्रयोक्ता में भी नहीं होती अर्थात् प्रयोग की स्थिति में प्रयोक्ता कभी भी पदार्थों का विचार करके पदों को प्रयुक्त नहीं करता।[१२] अतः वाक्यार्थ को प्रतिभा कहना ही अधिक उपयुक्त है। अर्थ निर्धारण में प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु उसमें पूर्ण प्रशिक्षण अथवा अनुभूति का कम स्थान नहीं। कोई कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, अपनी विषय में ही प्रतिभा के आधार पर अर्थ लगा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है। दर्शन तथा साहित्य का व्यक्ति कम्प्यूटर या अन्य भाषा का अर्थ प्रतिभा के आधार पर नहीं लगा सकता।

प्रतिभा अखण्डनीया है

इस प्रतिभा का स्वरूप निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने वे ही विशेषताएं गिनायीं हैं जिन्हें वाक्य की एकता के लिए आवश्यक बताया गया है। इस प्रतिभा का यदि पदार्थों के रूप में विश्लेषण करना चाहें, तो पदार्थों का एक अजीब-सा मिला-जुला रूप सामने आता है। उनमें परस्पर विभाजक रेखाएं खींचने का प्रयास भ्रामक ही सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि वह वर्तमान या अदृश्य पदों की समग्रता को लेकर भी उनसे बढकर एक सर्वग्राही रूप लेती दिखाई देती है। वास्तव में, उसका सम्बन्ध शब्दों से नहीं, विषय से है।[१३] हम उसको उच्चरित शब्दों से सम्बद्ध मान बैठें या प्रयोक्ता और ग्रहीता के भावैक्य पर आधारित सम्बन्ध समझें, वक्तव्य के पूर्णतम विनिश्चय में उससे बढकर अन्य कोई शक्ति या चेतना अधिक समर्थ नहीं है। शब्द या शब्द-भावना की पूर्णता भी उनके प्रत्यायन की पूर्ण सामर्थ्य के रूप में प्रतिभा में ही है।[१४] मनुष्य, बच्चा या पशु-पक्षी कोई भी हो, इस प्रतिभा को ही "अर्थग्रहण" और वाग्व्यापार" में परम प्रमाण मानता है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी बच्चों और पक्षियों के अबोध जीवन में भी यह प्रतिभा ही यथार्थ का ज्ञान करानेवाली होती है। प्रतिभा जिस बात को ग्रहण कर ले, वही बात से अज्ञानी से अज्ञानी के लिए भी ग्राह्य बन जाती है।[१५]

प्रतिभा सहज है

यह प्रतिभा सहजात या जन्मजात है, अभ्यासादि द्वारा उत्पन्न नहीं। अभ्यास द्वारा प्रतिभा की प्रखरता में अन्तर आ सकता है, पर प्रतिभा के बिना अभ्यास महत्त्वहीन ही रह जाता।[१६] प्रतिभा ही एक ऐसी वस्तु है जो समय-समय पर स्फुरित होती रहती है। वसन्त में कोयल के मीठे शब्द स्वयं ही हो जाते हैं, पक्षियों को पर बनाने की शिक्षा भी स्वयं आ जाती है।[१७] किसी प्राणी को किसी आहार के प्रति प्रीति एवं दूसरे को द्वेष उत्पन्न स्वतः होता है जैसे ऊंट को आम के पल्लव से द्वेष और नीम के पल्लव से प्रीति है। मनुष्य को बड़े प्रयत्न पर तैरना आता है जबकि भैंस के बच्चे जन्म लेते ही तैरने लगते हैं। इस प्रकार यह मानना पडता है कि समस्त प्राणियों की समस्त क्रियाएं प्रतिभा के द्वारा ही हो रही हैं। अतः यह प्रतिभा ही प्रयोग और ग्रहण का मूलाधार है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्ट स्थितियाँ वाक्यार्थ को समझने में सहायक हैं

भर्तृहरि के अनुसार वाक्य, प्रकरण, अर्थ, मूलभावना, औचित्य, समयानुकूलता, देश, काल, संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिंग, अन्यसन्निधि, सारूप्य और वैरूप्य विशिष्ट स्थितियां अर्थात् विशिष्टोपहिता प्रतिभा है [१८] जिसका प्रभाव किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखा ही जाता है। यदि उच्चरित पदों के अर्थों पदार्थों से वाक्यार्थ का ज्ञान संभव होता तब इन प्रकरणादि को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिकतम विचारकों ने भी स्वीकार किया है कि एक ही वाक्य विविध अवस्थाओं में विविध अर्थों की प्रतीति देने में समर्थ होता है।[१९]

परन्तु ये विविध तब तक ही हैं जब तक वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति उन्हें पढता या सुनता है क्योंकि उसका आधार शब्दरूप होते हैं। वक्ता और श्रोता को अपनी परिस्थिति, स्थान, समय आदि का पूर्ण ध्यान होने से वे किसी विशिष्ट वाक्य को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयोग एवं ग्रहण करते हैं, उनके लिए अर्थ-भिन्नता का अवकाश ही नहीं रहता। यही स्थिति अनेकार्थकता के सम्बन्ध में भी है। अनेकार्थकता या विविध अर्थात्मकता का प्रश्न शास्त्रीय है, उसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। भाषातत्त्व और व्याकरण की दृष्टि से प्रतिभा का स्वरूप स्फोट है और स्फोट के रहते किसी भी प्रकार की शब्द शक्ति की मान्यता का अवकाश नहीं रहता। स्फोट वाक्य जिस अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, उसे शब्दार्थ या पदार्थ न कहकर वाक्यार्थ या अभिधेयार्थ ही कहना चाहिए। शब्द शक्ति के समर्थकों द्वारा मर्यादित अभिधा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द या वाक्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध स्फोट रूप में ही होता है। इसलिए स्फोटात्मा और प्रतिभात्मा को वाक्यार्थ या अभिधेय का पर्याय ही कहना चाहिए। चूँकि स्फोट और प्रतिभा अविभाज्य है, इसलिए उनसे होनेवाली प्रतीति वाक्यार्थ भी अविभाज्य होनी चाहिए। उसके किसी भी अवान्तर भेद को केवल शास्त्रीय कल्पना या विवेचन सुविधा ही कही जा सकती है। उसे वास्तविक मानकर अर्थ-भेद आदि की कल्पना अंव्यावहारिक एवं असत्य है। [२०]

उपसंहार

अन्त में, निष्कर्षतः कहा ज़ा सकता है कि वैयाकरणों के मत में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है। नागेश ने भी **मंजूषा** में स्वीकार किया है "प्रतिभा वाक्यार्थः"। वाक्यपदीयकार ने कहा है कि संज्ञावाचक शब्दों में नियत संज्ञी की ही प्रतीति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है। अतः कल्पित पदार्थों से सिद्ध प्रतिभा को ही वाक्यार्थ कहा गया है। यह प्रतिभा प्रत्येक आत्मा के लिए भिन्न-भिन्न सिद्ध है तथा "यह उसका स्वरूप है" निर्णय भी दूसरे को नहीं समझाया जा सकता। उसका यह स्वभाव है कि बिना विचार का अवसर दिए ही समस्त अर्थों का मेल कर देती है और विषय में सर्वरूपता प्रदान कर देती है। किसी की भावना से अथवा शब्द द्वारा उत्पन्न हुई इस प्रतिभा का कोई भी व्यक्ति कार्य करने के या निर्णय करने में अतिक्रमण नहीं करता। समस्त प्राणी इसी प्रतिभा को प्रमाण मानते हैं और मनुष्यों की भाँति पशु और पक्षियों के भी समस्त कर्मों का आरम्भ प्रतिभा ही करती है।

अस्तु, प्रतिभावाद से व्याकरण के सिद्धान्त की नींव दृढ हो जाती है "सर्वे सवार्थवाचकाः" सिद्धान्त उसी समय पुष्ट हो जाती है जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि प्रतिभा में जितने अर्थ उपस्थित हैं, सब उस शब्द के अर्थ हैं। प्रतिभा का कारण वह शब्द है जिससे विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रतिभान हुआ है। मन्त्रों के जप में भी ध्यान का यही महत्त्व है कि आराधक मन्त्र के अर्थ का ध्यान करता हुआ अपने ध्यान में स्थित आकार देवता को साक्षात् करे। इसके अतिरिक्त, प्रतिभावाद को स्वीकार कर लेने से ही वैयाकरणों का एक वृत्तिवाद भी समन्वित हो जाता है। इन्हें लक्षणा अथवा व्यंजना भी सिद्धान्ततः नहीं मानना पडता। जब किसी शब्द की विभिन्न आनुपूर्वी से विभिन्न अर्थो की उपस्थिति होती है तब कोई कारण नहीं है कि मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ का विवेचन किया जाए तथा वाक्यार्थ बोध के लिए लक्षणा माना जाए। इसी प्रकार, व्यंजना भी मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब समस्त अर्थ शब्दजनित प्रतिभा से जन्य हैं तब तो सब अर्थ समान रूप से प्रतिभा ही हैं, उनमें शक्ति, लक्षणा और व्यंजना का भेद स्वीकार करना अयोग्यता ही है। अतः वाक्यार्थ विचार का विशिष्ट अर्थ प्रतिभावाद में ही मिल सकता है।

डॉ. कुमुद नाथ झा
डॉ. निर्मल कुमार तिवारी

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
एच. डी. जैन कॉलेज, आरा
(वी. कुँ. सिं. वि. वि., आरा)
द्वारा श्री सत्यदेव तिवारी
ग्राम-पो. -चन्दवा (पक्कापर)
जिला - भोजपूर बिहार, पिन - ८०२३१२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. वर्मा, सत्यकाम : भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय १९६४ पृ. सं. १७

२. उपरिवत् पृ. सं. १८

३. Gardiner. A. H. : " A sentence is a word or set of words revealing an intelligible purpose." **The Theory of Speech and Language** (1934) P. 88

4. " A sentence is an utterance which makes just as long a communication as the speaker has intended to make before giving himself a rest." -Ibid., P. 208

5. "... a sentence is that after which silence seems best." **Language** (NAL) P. 133

६. भर्तृहरि : वाक्यपदीय १.१२

7. Jesperson : "A sentence is a (relatively) complete and independent human utterance -the completeness and indepdendence shown by its standing alone i. e. of being uttered by itself. **Philosophy of Grammar** P. 807

८. वाक्यपदीय ३. ३. ८५

९. विश्वनाथ : वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षा सत्तियुक्तः पदोच्चयः साहित्यदर्पण २.१

10. "Theory of denotation by words possessed of indi vidually seperate senses giving rise to a different kind of sense know as purport or तात्पर्य when they are taken together. This view propounded by the Bhatta school of mimansa is opposed to the other view viz. अन्विताभिधानवाद propounded by the Prabhakar school. **Vakyapadiya** Ed. prof. K. V. Abhyankar Acharya V. P. Limaye P. 373

११. सोऽयमित्याभिसंबंधो बुद्धया प्रकम्यते यदा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्ण : प्रत्यायक : क्वचित् ।।

वाक्यपदीय २. ४०

१२. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ।।
इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन ।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ।।
उपरिवत् २. १४३ तथा २. १४४

१३. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ।। उपरिवत् २.१४५

१४. साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा ।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ।। उपरिवत् २.१४६

१५. अस्त्वर्थ : सर्वशब्दानामिति प्रत्याप्य लक्षणम् ।
अपूर्वदेवतास्वर्गोः सममादुर्गवादिषु ।।
स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः ।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः ।। उपरिवत् २.११९ तथा २.१४९

१६. प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहतुयः ।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः ।। उपरिबत् २.१२०

१७. भावनानुगतादेतदागमादेव जायते ।
आसतिविप्रकर्षीभ्यामागमस्तु विशिष्यतेः ।। उपरिवत् २.१५१

१८. वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्थानस्य सन्निधिः ।। उपरिवत् २.३१४-.१५

१९. स्पीच एक लैंग्वेज अनुच्छेद ५१, पृ. सं. २८५-२९०

२०. तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यते बहुरूपः प्रकाशते ।।
वाक्यपदीय ३. ३. ८७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आयुर्वेदीय मौलिक दर्शन

आयुर्वेद शास्त्र मात्र चिकित्सा शास्त्र नहीं है, अपितु वह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है जो अध्यात्मिकता एवं दर्शन से अनुप्राणित है। आयुर्वेद से यदि इन दोनों तत्त्वों को निकाल दिया जाय तो वह स्वयं निर्जीव शरीर की भाँति हो जाएगा। अध्यात्मिकता यदि आयुर्वेद की आत्मा है तो दार्शनिकता उसके प्राण हैं। यह निर्विवाद है कि जब से पृथ्वी पर मानव जीवन प्रारम्भ हुआ है, तब से ही आयुर्वेद अपने मौलिक स्वरूप के साथ विद्यमान है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह शाश्वत है। अपनी कतिपय मूलभूत विशेषताओं के कारण आयुर्वेद मानव जीवन के जितना अधिक निकट है उतना कोई अन्य शास्त्र नहीं है।

आयुर्वेद की अपनी चिन्तन पद्धति है, अपना मौलिक दर्शन है और उससे अनुप्राणित अपनी मौलिक विचार धारा है जिसने उसके आधारभूत सिद्धान्तों, रोग निदान पद्धति एवं चिकित्सा सिद्धान्तों की उद्‌भावना की है। वे इतने व्यापक, सार्थक उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं कि आज भी बदले हुए परिवेश में उनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। यही उनके शाश्वत होने का एक पुष्ट प्रमाण है। परिस्थिति वश हमारे दृष्टिकोण एवं विचारधारा में जो परिवर्तन आया है उसने ही "यह पुरातन है, अतः उपयोगी एवं ग्राह्य नहीं है" -कह कर उनको अस्वीकार करने का प्रयत्न किया है जो वास्तविकता से मुख फेरने जैसा है।

आयुर्वेद शास्त्र में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे सब पूर्णतः दार्शनिकता से अनुप्राणित हैं। उन सिद्धान्तों की विवेचना भी उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार दार्शनिक विषयों एवं सिद्धान्तों की जाती है। यद्यपि आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर रोगी मनुष्यों के विकार का प्रशमन करना है, तथापि अन्ततोगत्वा आत्मा के निर्विकार स्वरूप की प्राप्ति ही इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। आयुर्वेद का यह वैशिष्ट्य है कि उसने अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के लिए समान रूप से जोर देकर दोनों को ही अपना लक्ष्य बनाया है। यहां अभ्युदय का अर्थ है भौतिक समुन्नति और निःश्रेयस का अर्थ है मोक्ष प्राप्ति। इस सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो अथवा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिये मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त रूप से अपेक्षित है।

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८,अंक २, मार्च १९९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब ही से प्राणियों को सुख और दुःख की अनुभूति होने लगी थी। मनुष्यों की अनुभूति में सुख उसके लिए अनुकूल प्रतीत एवं हितकारी प्रवृत्ति थी। इसके विपरीत दुख उसके लिए प्रतिकूल प्रतीत एवं अश्रेयस्कर प्रवृत्ति थी। अतः प्रारम्भ से ही मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं सतत उसकी स्थिति तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहा। मनुष्यों के इस स्वाभाविक प्रयास में उसे सफलता दिलाने के लिए इस भूमण्डल पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ। क्योंकि मनुष्यों की तत्कालीन अनुकूल प्रतीति जनित सुख (आरोग्य) की उपलब्धि एवं प्रतिकूल प्रतीतिजनित दुख (विकार) की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद ही समर्थ था। मूलतः आयुर्वेद का प्रयोजन भी यही है "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम, आतुरस्य विकार प्रशमनम्" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रुग्ण व्यक्तियों के विकार का प्रशमन करना।

सम्पूर्ण आयुर्वेद की आधार शिला उसके मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित है। उन मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन के बिना आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वप्रथम उनका अध्ययन एवं ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि आयुर्वेद के समस्त मौलिक सिद्धान्त एवं आयुर्वेद का सम्पूर्ण आधारभूत विज्ञान आयुर्वेद की निजी चिन्तन धारा, उसका अपना प्रयोजन, एवं उसके स्वकीय दृष्टिकोण पर ही आधारित है, तथापि वे सिद्धान्त और वह विज्ञान भारतीय दर्शनशास्त्र एवं तात्त्विक विषयों से अनुप्राणित है। उन सिद्धान्तों में दार्शनिक एवं अध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र की चिन्तनधारा, अध्ययन पद्धति, मनन शैली एवं अनुशीलन परम्परा का उसकी समकालीन विद्याओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त भी दर्शनशास्त्र और दार्शनिक तत्त्वों से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुए हैं। इसका एक कारण यह भी है कि आर्षकाल में जिन जिन विषयों एवं विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है तथा जिन गुरुओं ने आयुर्वेद आदि विद्याओं की शिक्षा दीक्षा दी है वे स्वयं आयुर्वेद के साथ -साथ दर्शनशास्त्र एवं अन्य विषयों के भी ज्ञाता, कर्ता एवं प्रवक्ता थे। अतः उनके द्वारा आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्त से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

विभिन्न दर्शनकार ऋषियों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को जानने की चेष्टा की और उसी का बार-बार मनन, चिन्तन और निदिध्यासन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावना के अनुसार वस्तु का यह स्वरूप स्पष्ट प्रतिभासित हुआ। प्रत्येक दर्शनकार ऋषि ने प्रथम चेतन और जड के स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा दृश्य जगत की व्यवस्था को जानने का अपना दृष्टिकोण बनाया। पश्चात् उसी का सतत चिन्तन और मनन धारा के परिपाक से जो तत्त्व साक्षात्कार की प्रकृष्ट और बलवती भावना जाग्रत हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उन्होंने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है, तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन किया है तथा स्वात्मानुभूति के अनन्त सागर में अखण्ड, अक्षय और परमोत्कृष्ट अलौकिक सुख का अनुभव किया है। इस प्रकार दर्शन का मूल उद्गम दृष्टिकोण से हुआ है और उनका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।

दर्शन का मुख्य प्रयोजन अध्यात्मिक तत्त्वों की विवेचना कर उसके यथार्थ स्वरूप में रहस्य का ज्ञानोपार्जन कराना है। अध्यात्मिक तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य। तत्त्वों का विवेचन एवं दिग्दर्शन कराना भी दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्त्व चिन्तन की उच्चात्युच्च कल्पना, विचारों की सूक्ष्मता, विविध अध्यात्मिक विषयों के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन की गम्भीरता तथा प्रत्येक। तत्त्व की सूक्ष्मातिसूक्षम विवेचना ही दर्शन का आधार है।

आयुर्वेद पर दर्शनों का प्रभाव

लगभर समस्त भारतीय दर्शन अध्यात्मिकता से अनुप्राणित रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय दर्शनों ने आत्मा-मन-इन्द्रिय और उससे सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन को विशेष महत्त्व दिया। भारतीय दर्शनों की स्वतन्त्र चिन्तन धारा ने अपनी समकालीन विद्याओं को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरूप आयुर्वेद भी दार्शनिक विचारधारा, दार्शनिक तत्त्वों एवं दार्शनिक अनुचिन्तन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। यह बात दूसरी है कि दृष्टिकोण की भिन्नता और आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार कतिपय विषयों में दार्शनिक तत्त्वों की अनुकूलता के कारण किसी दर्शन ने अल्प रूप में तो किसी दर्शन ने अधिक रूप में आयुर्वेद को प्रभावित किया, किन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सभी दर्शनों ने आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया है। आयुर्वेद का इतना वैशिष्ट्य अवश्य है कि उसने दर्शनों के प्रतिपाद्य आत्मा-मन-इन्द्रिय और उन के अधिष्ठानभूत शरीर का सर्वांगपूर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवेचन कर दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता को प्रतिपादित किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र एवं आयुर्वेद दोनों ही भारतीय संस्कृति का पोषण एवं संवर्धन करने वाले अभिन्न अंग रहे हैं। भारतीय दर्शनकार ऋषियों ने दर्शनशास्त्र के माध्यम से जहाँ विश्व की चेतना भूत आत्मा को जाग्रत कर उसे निःश्रेयस के पथ पर अग्रसर किया वहाँ आयुर्वेद ने आत्मा के निवासस्थान-भूत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा, आरोग्य एवं अनातुरावस्था के लिए विभिन्न उपायों का निर्देश किया, ताकि स्वस्थ एवं अनातुर शरीर के माध्यम से आत्मा अपने चरम लक्ष्य निवृत्ति को प्राप्त कर सके। जिस प्रकार संसार चक्र के रूप में आत्मा और शरीर परस्पर संयुक्त हैं उसी प्रकार शास्त्रीय अध्ययन पद्धति के रूप में दर्शन और आयुर्वेद का पारस्परिक सम्बन्ध प्रारम्भ से ही चला आ रहा है।

आत्मा, मन और शरीर का कालद्रव्य के साथ संयोग-वियोग के बीच का अन्तर आयु का प्रमाण है। इस अवधि में मनुष्य को प्राकृतावस्था में रखना आयुर्वेद का उद्देश्य है। परन्तु आयुर्वेद ने जन्म और मरण की भी रोगों में ही गणना की है - स्वाभाविक रोगों में। आयुर्वेद का यह प्रसंग उन अंशों में से है जिनके कारण यह शास्त्र अन्य चिकित्सा प्रणालियों से अधिक भिन्न, अधिक व्यापक तथा सम्पूर्ण समझा जाता है। बौद्धिक चिन्तन ने इसे और भी अधिक सार्थकता प्रदान की है। इसी कारण से इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र की भूमिका धारण कर प्राक् चिकित्सि विज्ञान का स्वरूप भी स्वयं ही ग्रहण करना पडता है। चरक ने जिस ढंग से चरक संहिता में सांख्य का प्रतिपादन किया है वह सांख्य दर्शन अथवा सांख्यकारिका का शतप्रतिशत अनुकरण नहीं है, एक स्वतन्त्र सांख्य का स्वरूप है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि चरक ने एक नवीन दर्शन का निर्माण कर दिया, क्योंकि उसका कोई भी वाक्य साँख्य के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध अथवा खण्डन नहीं करता। जो भी थोडा बहुत परिवर्तन कहीं हुआ है उसका लक्ष्य आयुर्वेद के अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक सुविधाजनक तथा अनुकूल दार्शनिक नींव डालना है।

आयुर्वेद से सम्बन्धित दर्शन

सामान्यतः सभी दर्शनों ने न्यूनाधिक रूप में आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। क्योंकि आयुर्वेद के संहिता ग्रंथ ऐसे काल की देन हैं जब दर्शनों ने भारत में प्रचलित तत्कालीन समस्त विद्याओं को प्रभावित किया था।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतः आर्षकाल में दर्शन और आयुर्वेद का विकास समान रूपेण होने से तथा दोनों शास्त्रों का समान ज्ञान अर्जित करने वाले प्रवक्ताओं ऋषियों द्वारा इनकी रचना किये जाने से दर्शन तथा दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पडा है। तथापि, सांख्य दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के तात्त्विक विवेचन ने आयुर्वेद के सैद्धान्तिक पक्ष को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कुछ विद्धानों के मतानुसार तो आयुर्वेद ने सांख्य दर्शन के कतिपय उपयोगी सिद्धान्तों को अविकल रूप से ग्रहण कर लिया है तथा उनका प्रतिपादन भी अपने शास्त्रों में उसी रूप में किया है। मेरे विचार से इस कथन में कुछ सत्यांश हो सकता है, किन्तु उसमें यह तथ्य अन्तर्निहित है कि आयुर्वेद ने अपने मूल उद्देश्य के लिए ही सम्भवतः ऐसा किया था।

किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आयुर्वेद का कोई मौलिक दर्शन ही नहीं है तथा उसने अपने दार्शनिक पक्ष की परिपुष्टि के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन विशेष रूप से सांख्य दर्शन को प्रमुख आधार बनाया है। इसके विपरीत आयुर्वेद का अपना स्वतन्त्र मौलिक दर्शन है तथा अपने सैद्धान्तिक विवेचन में कतिपय स्थलों पर न्यूनाधिक रूप में अन्य दर्शनों का भी आश्रय लिया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद में जहाँ कहीं भी विभिन्न दर्शनों के दार्शनिक सिद्धान्तों को अविकल रूप में ग्रहण की जो प्रतीति होती है वह दोनों की संज्ञाओं में समानता होने के कारण है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि दर्शनशास्त्र और आयुर्वेद दोनों के ग्रन्थों में संज्ञाओं की समानता होने पर भी दर्शन ने एक ही पदार्थ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है उसी के सम्बन्ध में आयुर्वेद ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने भिन्न मन्तव्य को भी व्यक्त किया है, जिससे स्थिति अधिक स्पष्ट हो गयी है तथा आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष की मौलिक स्पष्टतः प्रतिभासित होती है।

आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष को इस रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये कि जिससे यह ज्ञात हो कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्णतः प्रभावित अथवा उन पर आधारित हैं।

आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन

जो लोग यह सोचते हैं कि आयुर्वेद का अपना कोई स्वतन्त्र मौलिक दर्शन नहीं है और वह सर्वथा अन्य दर्शनों पर आधारित है तो उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम मूलक एवं मिथ्या है। कुछ विद्धानों का मत है कि जिस प्रकार अन्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शनों में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन पदार्थों का दार्शनिक विवेचन्न किया गया है तथा इनके ज्ञान और सिद्धि के लिए प्रमाणों का आधार लिया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद में भी षद् पदार्थों का परिगणन उनका स्वतन्त्र विवेचन तथा उनके ज्ञानार्जन एवं सिद्धि के लिए प्रमाणों का अवान्तर भेद सहित सांगोपांग वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों की भाँति आयुर्वेद में सृष्टि के मूल तत्त्व प्रकृति, पुरुष, एकादश इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं और पंचमहाभूतों का अविकल वर्णन किया गया है। इसके उत्तर में मेरा विनम्र निवेदन है कि पदार्थ विज्ञान एवं सृष्टि विज्ञान का वर्णन प्रायः समस्त दर्शनों में किया गया है, किन्तु आयुर्वेद में इनका वर्णन कुछ भिन्न रूप में भिन्न उद्देश्य के आधार पर है। अतः आयुर्वेदीय दर्शन कुछ अंशो में अन्य दर्शनों से पृथक् हो जाता है। अन्य दर्शनों में पदार्थ विज्ञान का वर्णन संसार के विविध विषयों के ज्ञान के लिए तथा सृष्टि के मूल तत्त्व प्रकृति-पुरु ष का वर्णन संसार के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषयों की सिद्धि के लिए किया गया है। इसके विपरीत आयुर्वेदीय दर्शन में उपर्युक्त समस्त तत्त्वों का विवेचन रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए किया गया है। आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शन केवल आत्मा की मुक्ति या मोक्ष साधन के लिए ही प्रयत्नशील हैं तथा उसी के लिए अपने सिद्धान्तों एवं प्रमाणों द्वारा उसका मार्ग निर्देशन करते हैं। इसके विपरीत आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। वह केवल स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं आतुर रोगी मनुष्यों के विकार प्रशमन के लिए प्रयत्नशील रहता है और अपने इसी उद्देश की पूर्ति तथा रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अतः आयुर्वेदीय दर्शन भी अन्य दर्शनों की भाँति सर्वथा मौलिक एवं स्वतन्त्र दर्शन है।

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद
११२ ए/ब्लाक सी, पाकेट- सी
शालीमार बाग,
दिल्ली - ११००५२

आचार्य राजकुमार जैन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कविधर्म

यह मान्यता कितनी आह्लादकारी है कि जब ज्ञान, भाव और कर्म एक सत्य पर मिलते हैं तभी कोई युग प्रवर्तक कवि पैदा होता है। ज्ञान में कुछ नया जोड देना, भाव का उदात्तन कर देना और लीक से हटकर कर्म का युगीन आदर्श ध्येय निर्धारित कर देना अपने आप में अवश्य ही बडे काम कहे जा सकते हैं। परन्तु जीवन की सार्थकता इन सब के सन्तुलन में है। बुद्धि, हृदय और कर्म क्रमशः दार्शनिक, सुधारक और कलाकार उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र इनमें से अकेला कोई नहीं प्रस्तुत कर सकता है जो उसे सब ओर से स्पर्श कर सके। एक जीवन्त काव्य में ऐसा मार्मिक चित्र सहज ही देखा जा सकता है। यही कारण है कि मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना भरोसे का साथी होता है, उतना दार्शनिक या वैज्ञानिक नहीं।

इस संसार में पहले तो मनुष्य बनना ही दुर्लभ है, मनीषी बनना तो और भी कठिन है। साक्षात्कारी पुरुष के साथ कवि होना और लोककल्याण के लिए काव्य रचने की विलक्षण शक्ति पाना तो नितान्त दुर्लभ है :

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभ तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा" ॥[१]

कवि क्रान्तदर्शी होता है : "कवयः क्रान्तदर्शिनः"। तत्त्वज्ञान के बिना कोई कवि नहीं हो सकता। कवि जब विचार और भाव के ऊपरी सतह पर तैरता है तो वह कवि न होकर इधर उधर से नोच खसोटकर कविता की काया बढाने वाला 'तुक्कड़' है। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचना ही कवि का 'कवित्व' है 'कविधर्म ' है। अतः सम्यक्दर्शन कवि का प्रधान गुण है। फिर भी मात्र संद्रष्टा होने से कोई कवि नहीं हो जाता, जब तक वह अपने प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर उसे प्रकट नहीं कर देता।[२]

इस दृष्टि से समर्थ कवि तत्त्वद्रष्टा होने के साथ साथ 'शब्द स्रष्टा' भी है।

'कवित्व' के दो आधार हैं: दर्शन और वर्णन। कविधर्म का उन्मेष तभी होता है जब इन दोनों का मंजुल सामंजस्य होता है। तत्त्वद्रष्टा वाल्मीकि कवि तभी बने जब उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान को कमनीय शब्दों के माध्यम से मुखरित किया। कवि की संज्ञा उन्हें तब मिली जब क्रौंच पक्षी के कारण स्वर से उनका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हृदय पिघल गया और उनका आन्तरिक शोक 'श्लोक' में प्रकट हुआ। तत्त्वद्रष्टा होने के कारण कवि 'ऋषि' है : "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। काव्य रूप में जन-जन तक पहुँचाने के लिए तत्त्वदर्शन को 'अनश्वर स्वर' देने के कारण वह 'कवि-मनीषी' है : "कविमनीषी परिभूः स्वयंभूः"। लोक धर्म से ओतप्रोत काव्य सर्वथा अनिन्द्य होता है। वासनात्मक काव्य तो साक्षात् मृत्यु से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है।

प्लेटो की दृष्टि में मन की दो वृत्तियां है : बौद्धिक वृत्ति और स्फूर्ति वृत्ति। बुद्धिव्यापार का चमत्कार है शास्त्र और स्फूर्ति व्यापार का चमत्कार है काव्य। दैवी पागलपन (Divine insanity) की दशा में ही सहज भाव हृदय के भीतर से करते हैं। हृदय को स्पर्श करने का सामर्थ्य काव्य में है, शास्त्र में नहीं। कविधर्म अनायास ही हृदय में समा जाता है और व्यक्ति के माथे पर सिकन तक नहीं आती। शास्त्र स्वभाव से कठोर और रूक्ष होता है। धर्मशास्त्र हो या नीतिशास्त्र, दोनों में नैकविध मतवैभिन्य है और अभिव्यक्ति में रूखापन भी। काव्य रचनात्मक एवं सरस होता है। पढते ही वह चित्त पर चढ जाता है और विषय को हृदयग्राही बनाने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती है। साथ ही उसे जीवन में उतारने के लिए व्यक्ति सहज ही प्रवृत्त हो उठता है। जिस सरलता एवं रसमयता से काव्य व्यक्ति के अन्तर्मन में सद्‌गुणों का संचार करता है, उस शैली का शास्त्र में अभाव दिखता है। कवि भिखारी दास की मान्यता है :"दास" कवित्तनि की चरचा, बुधिवंतनि को सुख दैं सब ठाईं'। नीति-ग्रथों और दर्शन ग्रन्थों को न तो सुखपूर्वक पढा जा सकता है और न ही रूचिपूर्वक समझा जा सकता है। शास्त्र विवेकियों तक सीमित है और काव्य सर्वग्राह्य है। अल्प बुद्धि वाले लोगों को भी थोडे प्रयास से ही काव्य के सहारे चार वर्गों के फल की प्राप्ति हो जाती है। काव्य को प्रतिभा के साथ-साथ हृदयानुरंजन का भी संस्पर्श मिला है। प्रतिभा वह शक्ति है जो काव्य के क्षेत्र में नये नये अर्थों की उद्‌भावना किया करती है : "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।" फिर भी जो काव्य हृद्य को अनुरंजित नहीं करता है, वह निस्संदेह कविधर्म से वंचित है और सही अर्थ में काव्य कहलाने लायक नहीं है। कविधर्म ही वह सटीक माध्यम है, जो कवि और पाठक दोनों के हृदय के मध्य संवाद की दिशा खोलता है।

कविन्द्र टैगोर की मान्यता है : "मेरा धर्म 'कविधर्म' है। जिस दृष्टि से मैं अन्दर बाहर देखता हूँ, वह दृष्टि मेरे हृदय में है, तर्कबुद्धि में नहीं। मेरे जीवन में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे अनेक क्षण आये हैं कि मेरी आत्मा ने परमात्मा का स्पर्श किया है और आनन्दातिरेक में मैने उसकी साक्षात् अनुभूति की है। अन्तर्ज्ञान के सहज प्रकाश में वह नित्य उद्दीप्त है ''।[४] दिव्यानुभूति मन और वाणी से परे है :''यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'' यह विलक्षण अनुभूति प्रखर काव्यमयी साधना से ही संभव है, जहाँ खण्डधार्मिणी बुद्धि के धूमिल प्रकाश का तिरोभाव है और निस्सीम भावना के अनन्त प्रकाश की जगमगाहट। इसीलिए कवि मानता है कि जब भावना अपनी सीमा-रेखा तोडकर हृदय में उमडती है तो व्यक्ति बौद्धिक उलझन से मुक्त होकर आनन्द में सराबोर हो जाता है और इस आनन्द के सामने व्युत्पत्ति की बुद्धिविलासी महिमा नगण्य हो जाती है। ''काव्य कला मानव की उच्चतम अध्यात्मिक प्रगति की प्रतीक है, जिसके सहारे मनुष्य प्रकृति की मधुर छवि निहारता है; बाह्य जगत् के पदार्थों और अन्तर्जगत् के भावों में रस का अक्षय स्रोत पाकर अपने जीवन में आनन्द का संचार करता है और इस आनन्द का प्रकाशन अपनी कलाकृतियों में करके दर्शक एवं पाठक को आनन्द विभोर करने का यत्न करता रहता है। यही अभिव्यंजना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है ''।[५]

कवि के स्वभाव के अनुरूप ही उसका काव्य होता है। इस सन्दर्भ में राजशेखर का मन्तव्य है : ''स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।'' कोयले की खान से कोयला ही निकलता है, सोना नहीं। यदि कवि के चित्त में गर्हित वासनाएं हैं तो यही रूप उसके काव्य का भी होगा। पहले कवि को मनुष्य बनना होगा। मनुष्य बनने के लिए उसे अपनी राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों को हटाकर सात्त्विक वृत्तियों में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करनी होगी। एतदर्थ स्वार्थ और वासना से ऊपर उठकर उसे 'स्व' का समाजीकरण करना होगा। अर्थात् समाज के लिए जीना-मरना होगा। इस प्रकार उदात्त मनुष्य ही कवि बनने का अधिकारी है और उसी के काव्य में 'कविधर्म' को प्रतिष्ठा मिल सकती है। काव्य का लक्ष्य 'श्रेय' की सृष्टि है। हेय तथा अग्राह्य उपकरणों से उत्कृष्ट काव्य का सृजन कथमपि संभव नहीं है। निकृष्ट उपादानों से लोकसंग्रह के भाव की सृष्टि नहीं हो सकती और न ही लोकोपकारी काव्य का सृजन हो सकता है। वास्तविकता यही है कि उदात्त भाव से सृजित सुन्दर काव्य ही सन्तुलित समाज की रचना में समर्थ होता है। महाकवि तुलसीदास का यह विचार प्रसंगानुकूल है कि 'हृदय' सिन्धु है, 'मति' सीप है और 'सरस्वती' स्वातीनक्षत्र है। जब हृदय में श्रेष्ट विचारों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्षा होती है तभी मुक्तामणि सदृश काव्य का सृजन होता है : हृदय सिन्धु मति सीपसमाना। स्वाती सारद कहइ बखाना ॥ जौ बरसै बर बारि विचारू। हैहिं कवित मुक्तामणि चारू॥

कवि समाज की कमनीय कृति है। वह समाज का प्रतिनिधि और मर्यादाओं का स्रष्टा है। सिद्ध कवि ही अपने काव्य में मूल्यों को प्रतिष्ठित करके समाज में प्रेम एवं त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है; श्रेय एवं प्रेम में मंजुल समन्वय स्थापित करता है; आदर एवं श्रद्धा के भाव में समधिक वृद्धि करता है। ओजस्विता से समाज को मण्डित करना कवि का मूल धर्म है। अतः काव्य का लक्ष्य काव्य न होकर सामाजिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा है।

कवि का धर्म यथार्थ का उद्घाटन करने के बजाय सामाजिक मर्यादाओं का संरक्षण है। 'मरम बचन सीता जब बोला' रामचरितमानस की यह अर्धाली एतदर्थ साक्ष्य है। काव्य का सृजन तो व्यक्ति ही करता है, किन्तु सृजन के बाद यही काव्य उस व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे विश्व की धरोहर बन जाता है। इसका कारण है कि जब कवि के हृदय में भावना का विस्तार होता है तो वह व्यक्ति न रहकर समाज बन जाता है और उसका काव्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हो जाता है। 'कविधर्म' ही काव्य को जीवन से जोडता है। जब वासनाएँ मिटती हैं तभी सत्त्व उदित होता है और कवि हृदय में आनन्द संचरित होता है। कवि की यही वैयक्तिक आनन्दानुभूति सामाजिक आनन्दानुभूति में विसर्जित हो जाती है। यही 'काव्यरस' है, जो स्वभाव से 'सत्य शिव सुन्दर' है। 'काव्य-रस' अमंगलकारी हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह ऐन्द्रिकरस न होकर आत्मिकरस है। भोग में रस कहाँ ? भोग रस तो छलावा है, धोखा है और खाज के सुख की तरह भ्रान्त सुख है। सांसारिक सुख खण्डित, क्षणिक एवं दुःखमिश्रित है। काव्यानन्द विलक्षण, निस्सीम, दुःखहीन और 'लोकोत्तर आनन्द' का प्रदाता है। सच्चा कवि दूसरों के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होता है। पराधीन नारी की पीडा को आत्मसात करते हुए कवि तुलसी विफर पडेः "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" चाहे अवर्ण हो या सवर्ण, ऊंच हो या नीच सभी समभाव से काव्य का आनन्द ले सकते हैं : "रसभावप्रसक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्।"

कविधर्म के संस्पर्श से नीरस वस्तु भी सरस बन जाती है। काव्यकला सच्ची साधना का प्रतिफल है। यह अनन्त आनन्द का अजस्र स्रोत है। अवसाद मिटाकर पाठक के हृदय में आनन्द प्रवाहित करने का सामर्थ्य कवि में ही होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। आनन्द को पाने के लिए सभी प्राणी बेचैन होकर भटकते रहते हैं। कवि प्रकृतितः परार्थी होता है। वह समग्र रस का पान अकेले नहीं करना चाहता है। उसका 'स्व' इतना विस्तारित है कि उसकी निगाह में कोई 'पर' है ही नहीं। वह स्वनिष्ठ आनन्द को शब्दों एवं स्वरों के सहारे अन्य लोगों के हृदय में उतारने का प्रयास करता है। व्यक्तित्व के इस प्रसार को -'पर' के साथ 'स्व' के इस तादात्म्य को सहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गयी है। यही आत्मज्ञान या आत्मलाभ है और सच्चे अर्थ में 'स्वान्तःसुखाय' का मन्तव्य भी। अपने में सब को देखना ही कवि की 'कविधर्मिता' है। रससिद्ध कवि शब्दमय या चित्रमय अथवा स्वरमय माध्यम द्वारा इस रसानुभूति को बाहर प्रकट करता रहता है। इस रस का पान करके वह जितना प्रसन्न होता है, उससे कहीं अधिक प्रसन्न वह तब होता है जब श्रोता या पाठक उसके द्वारा उद्दीप्त रस का पान करते अघाते नहीं हैं। अतः यह धारणा अतिरंजित नहीं है कि कवि का संसार बडा ही विशाल है :" अहो भारो महान् कवेः।"

जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी कल्पना को निस्सीम आयाम देना 'कविधर्म' है। जीवन के विस्तार में शायद ही कोई ऐसा पक्ष बचता हो, जिसे कवि नया आलोक फेंककर न देखता हो और देखकर नयी व्याख्या न करता हो। धरती पर उसे कुछ भी तुच्छ या अपवित्र नहीं लगता है जिसे ठेलकर आगे बढा जा सके। गुरुदेव टैगोर ने चेतावनी दी है : " तुमने जिसको नीचे फेंका, वही आज तुम्हें पीछे खींच रहा है। तुमने जिसे अज्ञान के अंधेरे गह्वर में छिपाने की कोशिश की, वही आज तुम्हारे कल्याण को बाधित कर रहा है। विशालता, शिवता और सुन्दरता पर क्षुद्र, अशिव और विरूप का दावा प्रमाणित करके उन्हें विशाल, शिव और सुन्दर बना देना किसी महान का सृजन कहा जायेगा। विष का प्रयोग हो सभी विष के रूप में कर सकते हैं। परन्तु विष में रासायनिक परिवर्तन करके उसे जीवनदायिनी औषधि का रूप प्रदान करना विदग्ध वैद्य का कार्य है।" सिद्ध कवि ऐसा ही विदग्ध वैद्य है, जिसका काव्य अमृत रस का पान कराकर मनुष्य की पशुता को देवत्व में बदल देता है। कवि की 'काव्य -गंगा' में अवगाहन करके पवित्र होने का अधिकार सभी को है। महीयसी महादेवी वर्मा ने गुरुदेव को प्रमाण करते हुए कहा है :" थोडे जल वाले नदी नाले कहीं भी समा सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण वेग से सहस्रों धाराओं में विभक्त होकर आकाश की अनन्त ऊंचाई से धरती के विस्तार में उतरने वाली गंगा को समाने के लिए शिव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का जटाजूट ही समर्थ है। इस व्यक्ति को देखकर ऐसा लगता है कि मानों 'काव्य-गंगा' रवीन्द्र की अनन्त कल्पनाओं में समा गयी हो और काव्य की व्यापकता सिमटकर मूर्त हो गयी हो। उनके काव्य से परिचित होने के बाद ऐसा लगता है कि मानो व्यक्ति तरल होकर समाज में फैल गया हो। कवीन्द्र अपनी कृति में इस प्रकार व्याप्त हैं कि उन्हें कृति से अलग करके देखना कठिन है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता है और एक को नापने में दूसरा नप जाता है, वैसे ही जैसे घट के जल का नाप-तोल घट के साथ ही हो जाता है।"[६] कवि, काव्य और साधारण पाठक जब आपस में मिलकर एक होते हैं तभी काव्य में त्रिवेणी प्रवाहित होती है, जो हरविध मंगलकारी है।

कमनीय वीणा की तन्त्री को झंकृत करके कवि कलावन्त 'स्वान्तः सुखाय' स्वरमाधुरी से श्रोताओं को मुग्ध करने का अश्रान्त श्रम करता है। यहाँ 'स्वान्तःसुखाय' का निहितार्थ कवि का निजी सुख नहीं है। कवि तभी आनन्दित होता है, जब उसके काव्य से निःसृत कमनीय आभा के आलोक में समग्र मानवता प्रकट होती है। काव्य में वही 'कविधर्म' है, जो मनुष्य के भीतर प्रसुप्त इन्सानियत को जगाता है और 'सत्य-शिव-सुन्दर' की तलाश करके जीवन के सर्वांग को सवाँरता है। काव्य कमनीय नारी या रमणीय उद्यान तक सीमित नहीं है, अपितु उस श्यामरंग पंक को भी आत्मसात किये रहता है, जिससे पंकज का जन्म होता है। कवि वृद्धि - ह्रास, - हर्ष- विषाद, - उल्लास अवसाद सभी उभयपक्षों के बीच छिड़े संघर्ष को चित्रित करने में अपनी कला का विलास देखता है। "भीषणता तथा सरसता, कठोरता तथा कोमलता, कटुता तथा मधुरता, प्रचण्डता तथा मृदुता लोकधर्म (कविधर्म) का सौन्दर्य है।" कवि की दृष्टि में तो कुछ भी निषिद्ध नहीं है। तुच्छ में विराट देख लेना ही 'कविदृष्टि' है।

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'- इस धारणा से कवि के विराट हृदय का परिचय मिलता है। आत्मद्रष्टा तुलसी के लिए सब कुछ आत्मस्वरूप है। अर्थात् सभी अपने हैं और कुछ भी पराया नहीं है, जिससे नफरत की जाय। यही तत्त्वबोध है, जिससे जातिगत, सम्प्रदायगत और क्षेत्रगत घेरा टूट जाता है और संकुचित दृष्टि ठहर नहीं पाती। महात्मा तुलसीदास की यह घोषणा इसके लिए सबल साक्ष्य है :

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जात बिगार न सोऊ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रूचै सो कहै कुछ कोऊ ।
मांग के खइबो मसीत को सोइबो लइबे को एक न दइबे को दोऊ ।

कवितावली

रामचरितमानस केवल तुलसी को ही सुख देता है ऐसा मानने के लिए शायद ही कोई सुधी पाठक तैयार हो । हकीकत यही है कि यह महाकाव्य सार्वयुगीन बन गया है और पावनी गंगा की तरह सम्पूर्ण लोक के कल्याण के लिए निरन्तर तत्पर है ।

'आत्मानं विजानीहि' (Knowthyself -Socrates) यही आत्म-साक्षात्कार काव्यात्मक चिन्तना एवं रसात्मक रचना का मूल स्रोत है । जैसे आनन्द लाभ के लिए अद्वय ब्रह्म अपनी रमणीय माया के सहारे प्रपंच की रचना करता है और छुपाछुपी का खेल खेलता है, वैसे ही आनन्द रस की खोज में साक्षात्कारी कवि काव्य कला का सृजन करता है । उसके काव्य में आत्मा का स्वरूपोन्मेष होता है और आनन्द का उन्मीलन भी । आनन्द का उन्मीलन ही काव्य का प्रयोजन है यही कविधर्म है । चूंकि आत्मद्रष्टा तुलसी के काव्य में सर्वव्यापी आत्मा का उन्मेष है, अतः 'कविन हो हुँ नहिं चतुर कहावहुँ । निज अनुरूप राम गुन गावहुँ ॥' निज स्वभाव के अनुरूप तुलसीदास द्वारा राम का गुणानुवाद सदा के लिए सर्वप्रिय बन गया है । संत कवि का अपना तो कुछ नहीं । जो कुछ उसके पास है, वह सब दूसरों के लिए है । अतः उसका 'स्वान्तःसुखाय' सहज ही 'सर्वजनहिताय' है । यह कथन व्यवहार में अटपटा भले ही लगता हो, किन्तु परमार्थ में सर्वथा सुसंगत है । "निज कवित्त केहिं लाग न नीका । सरस होइ अथवा अति फीका ॥" तुलसी के विचार में यह कवि की स्वार्थ दृष्टि है । "कीरति मनिति भूति भल सोई । सुरसरि सम सब कहं हित होई ॥" यह कवि की परमार्थ दृष्टि है और श्रेष्ठ काव्य का मानक भी ।

काव्य का मूल मन्तव्य है कि मनुष्य अनन्त चेतना के साथ अपनी व्यक्तिगत चेतना का ताल मेल कायम करे । 'कविधर्म' की कोई सीमा रेखा नहीं है । उसकी अनन्त भावना में निखिल ब्रह्माण्ड विश्राम पाता है । सुकुमार कवि 'सर्वात्मवाद' का संदेश देता हुआ भेद और अभेद के बीच सामंजस्य स्थापित करता है । वह सब के सुख-दुःख में समान रूप से भागीदार होता है । 'कविधर्म' में अनन्त मानवता मुखरित होती है । यह सत्य है कि किसी देश काल में ही किसी व्यक्ति के हृदय से कविता बह निकलती है । परन्तु जब हृदय से कविता की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अजस्र धारा फूटती है तो वह हिमालय से निकली गंगा की तरह लोकमंगल की दिशा में निरन्तर आगे बढती ही जाती है। अनन्त मानवता को आत्मसात् करने के नाते दिक्काल में उपजी कविता अदैशिक, अकालिक और सार्विक बन जाती है। तुलसी का 'रामचरितमानस', कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', टैगोर की 'गीतांजलि' और व्यास का 'महाभारत' अब निस्सीम, सर्वयुगीन एवं कालजयी हो गये हैं। सत्य को मानवता से जोडने वाला कवि ही 'कविधर्म' के मर्म को समझ सकता है। काव्य का असली प्रयोजन है कि मनुष्य अपने भीतर के देवत्व को पहचाने, क्योंकि देवत्व ही उसमें सृजनकर्त्ता है। काव्य में प्रेम तभी करता है, जब ससीम असीम को खोजता है; ज्ञान भक्ति को तलाशता है। यदि कवि अपने काव्य में 'सर्वांगपूर्ण अद्वैत' की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता; सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा नहीं दे पाता; अनन्त मानवता को नहीं समेट पाता; शत्रु को मित्र बनाने की पहल नहीं कर पाता और शील को सभी सद्गुणों की धुरी नहीं बना पाता तो वह सच्चे अर्थ में कवि नहीं है। गुरुदेव टैगोर ने ठीक ही लिखा है: "सच्चा काव्य वही है, जो अभिनव सृजन करता है, न कि अतीत और वर्तमान में दुरभि संधि करता है।"[९]

काव्य का मन्तव्य 'एकतान संगीत' है। यह संगीत काव्य के सन्तुलित शब्दों से करता है। जैसे संकेतों का सन्तुलन नृत्यकला है, वैसे ही व्यंजित शब्दों का सुविन्यास काव्यकला है। चित्र में रेखाएँ सीमा का निर्धारण करती हैं किन्तु रंगों की छटा उसे निस्सीम बना देती है। काव्य का रेखांकन भी शब्दों से होता है, किन्तु, व्यंजना उसकी सीमा-रेखा तोड देती है। चित्र में रंग का जो स्थान है, काव्य में व्यंजना का वही स्थान है। कालिदास की एक शकुन्तला में भारत की असंख्य अल्हड़ किशोरियों की मादकता की झलक मिलती है और एक कण्व में अगणित पिता की विह्वलता की मार्मिकता छिपी है।

मैथ्यू आर्नाल्ड के विचार में "काव्य मूलतः जीवन की आलोचना है।"[१०] अपनी पैनी दृष्टि से कवि जीवन के विविध पक्षों को अपने काव्य में चित्रित करता है। काव्य तो साक्षात् जीवन दर्शन है। वह 'कविधर्म' का संस्पर्श देकर वस्तु के हेय पक्ष को भी उदात्त बना देता है। कवि स्वभाव से सौन्दर्य-विधान की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी दृष्टि में मंगल और सुन्दर एक ही है। धर्माचारी की जो 'मंगलदृष्टि' है, वही कवि की 'सौन्दर्य-दृष्टि' है। सुन्दर काव्य कल्याण का विधान करता है। 'पुण्य-कला' के बिना तो 'काव्य कला' भी व्यर्थ है। लोक कल्याण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही काव्य का धर्म है-यही कविधर्म है। आपाततः, अशिव का वर्णन काव्य में निष्प्रयोजन नहीं है। सुन्दर को निखारने के लिए असुन्दर भी काव्य का प्रतिपाद्य बनता है। कवि की अन्तर्दृष्टि आदतन सौन्दर्य को निरखती है। यह सौन्दर्य चाहे वस्तु के 'रूप-रंगो' में हो या मनुष्य के 'मन वाणी कर्म' में। भीतरी सौन्दर्य से ही बाहरी सौन्दर्य मूल्यवान् बनता है। सुन्दर शरीर में मलिन मन का वही स्थान है, जो स्थान सोने के पात्र में विष का है। भगवान शिव को आकृष्ट करने एवं पति बनाने की इच्छा से पार्वती ने अपने बाह्य सौन्दर्य में भरपूर निखार किया था। परन्तु ऐसा करने से वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सकीं। योगेश्वर शिव की दृष्टि पडते ही काम (मदन) जलकर क्षार हो गया। इससे पार्वती लज्जित हो गयीं और स्वयं अपनी निन्दा करती हुई उन्होंने कठोर तप-साधना से अध्यात्मिक सौन्दर्य प्राप्त करने में सफल हो गयीं और शिव को अपना पति बना ही लिया :

"तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथासती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता ॥"[११]

तात्पर्यतः, स्वार्थरूपी 'काम' को धर्म की वेदी पर स्वाहा कर देने के पश्चात् ही 'शिवत्व' की प्राप्ति संभव है। 'मदन-दहन' का यही आध्यात्मिक रहस्य भी है। अध्यात्मिक ध्येय और नैतिक मूल्य से हटकर काव्य जीवन के लिए गर्हित हो जाता है। जीवन पर उसी काव्य का स्थाई असर होता है, जो मनुष्य के भीतर की गहराई में उत्तर जाता है।

फ्रायड के विचार में कामवासना (लिविडो) ही काव्य की शक्ति है। काव्य में शृंगार रस अतृप्त काम की छलकन है। अर्थात् काव्य दमित वासनाओं का बाह्य प्रकाशन है। फ्रायड की यह धारणा सही नहीं है। काव्य में शृंगार रस के साथ साथ करुण रस का भी प्राधान्य है। यदि कामवासना ही काव्य का सर्वस्व है तो व्यभिचारी को सर्वश्रेष्ठ कवि होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। उलटे काव्य में सात्त्विक भाव की प्रमुख भूमिका है, न कि वासनात्मक भाव की। मनुष्य का यथार्थ पशुत्व है और आदर्श देवत्व। उसे अपने देवत्व की अनुभूति काव्य संगीत में होती है, न कि भौतिक कोलाहल में।

'औचित्यबोध' ही कवि का कविधर्म है। रसोन्मीलन के साथ औचित्य का गहरा सम्बन्ध है : "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितं" क्षेमेन्द्र।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस का स्रोत नहीं फूटता। तडाग में खिले कमल, उपवन में विहसते पुष्प और पंचम स्वर में कूजती कोयल का काव्य में मनोहारी चित्रण सर्वप्रिय होने के नाते औचित्यपूर्ण है। यही 'औचित्य' शिव है, सत्य है, सुन्दर है। सात्त्विक रसोद्रेक में काव्य में 'कविधर्म' उपजता है। जब 'कविधर्म' साहित्य में स्पन्दित होता है तब उसमें सत्य शिव सुन्दर की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। जब चिन्तन को उसका स्पर्श मिलता है तो दर्शन की कठोर लकीरें तरल होकर परस्पर समीप आ जाती हैं और विवाद 'संवाद' में बदल जाता है। जो भावना के अथाह सागर में डूबना जानता है, वही काव्य के रस का पान कर सकता है। दैनिक जीवन में मितव्ययी होना भले ही अच्छा कहा जाता हो, किन्तु, भावुकता की अवस्था में आत्माभिव्यक्ति ज्वार की सीमा तक पहुँच जाती है। भावना को अनन्त विस्तार देने का सामर्थ्य 'कविधर्म' में ही है। काव्य के विषय का धर्म समधिक भाव से पाठक का स्पर्श करता है। भरत मुनि ने स्पष्ट कहा है कि न तो रस भावहीन होता है और न ही भाव रसहीन "न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः" [१२] काव्य वस्तु सहज ही पाठक के मन को रस में सराबोर कर देती है। शॉपेनहॉवर का विचार है कि "समर्थ प्रतिभा प्रत्येक वस्तु में रस तलाश लेती है। रसहीन तो कुछ है ही नहीं।" कटु काव्य दुष्ट काव्य है। माधुर्य, ओज और प्रसाद काव्य के उदात्त गुण हैं। भट्ट लोल्लुक के विचार में, नीरस वस्तु के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं है: " न तु नीरसस्य इति अपराजिति।" काव्य वस्तु में रसात्मकता लाना कवि का मूल प्रयोजन है। रसोन्मेष के लिए वह ऐतिहासिक तथ्य को सुधार सवाँर सकता है। कविवर तुलसी ने सीता के 'परुष वचन' का ऐतिहासिक उद्घाटन करने के बजाय मर्यादित ढंग से प्रस्तुत किया है: "परमबचन सीता जब बोला"। सीता आदर्श नारी है। 'परुष वचन' का उद्घाटन करने से यह मर्यादा खण्डित हो जाती। सुधी कवि को ऐसा ही करना चाहिए, तभी समाज विकृतियों से उबर सकता है। लोक में इतिहास का सम्मान तथ्य का उद्घाटन करने में और काव्य की मर्यादा रस की निष्पत्ति में है।

काव्य में प्रेम को ही सम्बन्धों का सूत्रधार बनाया जाता है। प्रेम असीम-ससीम का, निर्गुण-सगुण का, शक्ति-सौन्दर्य का, रूप-रस का मंजुल समन्वय है। यदि सगुण रसमय है तो निर्गुण साक्षात् रस है : "रसो वै सः।" यदि सगुण सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय है तो निर्गुण का भेद घुलकर एक हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रेम रागात्मक जरूर है, किन्तु उसमें वासना की दुर्गन्ध नहीं है। कवीन्द्र टैगोर का कवि हृदय बोल उठता है : "वैराग्य साधना में मेरी मुक्ति नहीं। अनुराग के हजार बन्धनों में मुझे मुक्ति का आनन्द मिलता है। ..... मैं अपनी इन्द्रियों को संयम के घोर सीखचों में बन्द नहीं करना चाहता। दर्शन, श्रवण और स्पर्श में मैं तेरा सारा आनन्द भर लेना चाहता हूँ और रात दिन हरक्षण अपना प्रेम तुझे अर्पित करना चाहता हूँ।"[१३] 'गीतांजलि' के भक्ति रस में पगे गीतों में 'सर्वात्मवाद' की सुन्दर झांकी देखने को मिलती है:" सीमार माझे असीम तुमि, बजाओ आपन सुर। आमार मध्ये तोमार प्रकाश, ताई एत मधुर॥"[१४]

प्रकृति की कन्दराओं एवं वनों में वेद की ऋचाओं की प्रथम अनुगूंज सुनाई पडी है। वैदिकऋषियों को सत्य का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं और वनदेवी केशांत कुंजो में हुआ है। रामायण और महाभारत वन के जीवन्त दृश्यों से परिपूर्ण हैं। भवभूति की सीता की सारी करुणा वन की लताओं और पुष्पों पर छाई दिखायी देती है। कालिदास की वनलता शकुन्तला के 'मधुरमासां दर्शनं' पर दुष्यन्त विमुग्ध है। शकुन्तला का मादक सौन्दर्य तथा रूपलावण्य प्रकृति के प्रभाव का अमर विलास है।"[१५] इसी तरह कण्व के आश्रम से पतिगृह को जाते समय कविने शकुन्तला के वियोग में सारी प्रकृति को उसके साथ करुण कन्दन करते हुए दिखाया है:

"उद्गलितदर्भ-कवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृत-पाण्डुपत्राः, मुचन्त्यश्रूणीव लता :॥- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रकृति में मानववियोगजन्य यह आलोडन कवि के मार्मिक अन्तश्चक्षु द्वारा ही वेद्य है। मनुष्य और प्रकृति का परस्पर सौहार्द किस रसिक की हृत्तन्त्री को निनादित नहीं करता ? मेघदूत का यक्ष अपनी प्रेयसी की भौहों की छवि नदी की लोल लहरियों में निहारता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रकृति दिव्य मन द्वारा संरचित है। इसीलिए कवि प्रकृति को पार्थिव, गन्दी एवं जड न देखकर अखण्ड, समरस एवं दिव्य चेतनशक्ति के रूप में देखता है। जो जीवन-धारा मेरी नसों में प्रवाहित हो रही है, वही प्रकृति में भी उसी लय ताल से चल रही है। अर्थात् हरी घास की कोपलों, वृक्षों के नवपल्लवों और विहँसते फूलों के रूप में यही प्रकृति अपनी दिव्य चेतना का मान करा रही है। यही 'काव्यात्मक अध्यात्मकवाद' है। महाकवि टेनिसन को झरने में ईश्वर का दिव्य संदेश सुनायी देता है: "मनुष्य आते जाते रहते हैं। परन्तु बिना रुके मैं नित्य चलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहता हूँ।"[१६] मनीषी तुलसी ने प्रकृति के सहारे जन-जन तक अध्यात्मिक संदेश पहुँचाने में आशातीत सफलता पायी है :

"कविहिं अरथ आखर बलुसांचा। अनुहरिताल गतिहि नट्टु नाचा ॥
सो मैं कुमति कहौं भांती। बाज सुराग किगाडर तातीं " रामचरितमानस, अयोध्याका.

"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएं जैसा ॥" किष्किन्धाकाण्ड

" पावस सम जुग ब्रह्म विवेकू। एक दारूगत देखिय एकू ॥" -,, बालकाण्ड

"हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहि नहिं पन्थ।
जिमि पाखण्डवाद तें, लप्त होहिं सद्ग्रन्थ ॥" - किष्किन्धाकाण्ड

'आशावाद' कविधर्म का सहचर है। अरुण आभा के अन्धकार में जिस प्रकार पक्षीगण गाकर सूर्योदय की घोषणा करते हैं, उसी प्रकार कवि का अन्तःकरण भी वर्तमान के सघन अन्धकार में गाकर घोषणा करता है कि हमारा उज्ज्वल भविष्य समीप है। उसके अभिनन्दन के लिए हमें प्रस्तुत होना चाहिए। आखिर भीमकाय दानवों के निशोत्सव में ही तो कोमलकाय मानव प्रकट हुआ और सारी सृष्टि पर छा गया। साधारण जन को उपेक्षित करके हम आगे नहीं बढ सकते। हीरे का हर कण मूल्यवान होता है। कवीन्द्र टैगोर की वेदना है : "मुझे जन तो बहुत मिले, किन्तु साधारण कोई नहीं मिला।"

रीडर दर्शन विभाग डॉ. दुर्गादत्त पांडेय
गनपत सहाय पी. जी. कॉलेज
सुलतानपूर (अवध)

टिप्पणियाँ

१. 'संस्कृत-आलोचना'- पं. बलदेव उपाध्याय, उ. प्र. हिन्दी संस्थान (१६६१), पृ. १०
२. वही, पृ. ११
३. "चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखंदुःखल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपम् निरूप्यते ॥ - विश्वनाथ कविराज
४. 'दि रेलिजन ऑव मैन', टैगोर, पृ. ६७
५. 'संस्कृत-आलोचना', पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

६. महादेवी वर्मा के निबन्ध 'प्रणाम' से उद्धृत ।
७. 'संस्कृत -आलोचना', पं. बलदेव उपाध्याय , पृ. ६८
८. 'एकाकी नैव रमते'-'सो अकामयत एकोऽहं बहुस्याम्' ।
९. 'दि रेलिजन ऑव मैन', टैगोर, पृ. १०
१०. 'Poetry is, bottom, a criticism of life'- Mathew Arnold
११. 'कुमारसंभवम्' -पंचमसर्ग -१
१२. भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ।
१३. 'गीतांजलि' , टैगोर ।
१४. 'गीतांजलि' , टैगोर ।
१५. "For men may come and men may go,
But go on for ever"- Tennyson.
१६. "अधरः किसलय रागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ॥
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ. ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ. ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था /प्रकाशन/ उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें-

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पारम्परिक (भारतीय) शास्त्रों का अन्तःसम्बन्ध और राजशेखर

सन्दर्भ - "काव्यमीमांसा" का

राजशेखर की "काव्यमीमांसा" समग्रता में अप्राप्त है - पर उसकी जो रूपरेखा उपलब्ध है - उससे कल्पना की जा सकती है कि वह किस प्रकार की विविधायामी प्रतिमा का धनी रहा होगा। हमारी परम्परा में पण्डितों के बीच यह प्रसिद्धि रही है कि आचार्य अन्तेवासी की एक ही ग्रन्थ पर न केवल अपने विशेष क्षेत्र का सबकुछ पढा देता है अपितु यथासम्भव अन्य शास्त्रों का भी ज्ञान कराकर शास्त्रनिष्णात करा देता है। जंगम पुस्तकालय के रूप में प्रख्यात पं. गंगाधर शास्त्री कहा करते थे कि उन्होंने केवल "काव्य-प्रकाश" पढा है और उसी के पण्डित है-उसकी समझने के लिए तमाम शास्त्रों की ओर जाना पडा। वस्तुतः ज्ञान तो अखण्ड है। ग्राहक की ज्ञानगत खण्डता जब अपने समुच्छेद के लिए शास्त्रकान्तार में प्रविष्ट होती है और व्यवधान छँटता जाता है तब प्रत्येक शास्त्र परस्पर की समझ से पूर्णता की और अग्रसर होते हैं। चिन्तन के लिए भाषा ठीक होनी चाहिए अतः और भाषा के व्यवस्थित होने पर गन्तव्य तक पहुचने के लिए मार्गारूढ होना चाहिए... "प्रमाण" का मर्मज्ञ होना चाहिए। "पद" और "प्रमाण" शास्त्र सर्वशास्त्रोपकारक हैं। इनसे सुसज्जित होंकर तात्पर्य-बोध के लिए अपेक्षित "वाक्य" शास्त्र को हृदयंगम करना चाहिए। पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ ही शास्त्र का तात्पर्य निर्धारित कर बुद्धिगत विवेक क्षमता और कर्तृत्वगत स्वातंत्र्य वश इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति स्वरूप आचरण करता है। यही आचरण योग बन जाता है और चिन्तन "मनन" तथा "निदिध्यासन" में परिणत होकर तापत्रय मूल अज्ञान का भंजन कर स्वरूप-बांध करा देता है। इस प्रकार शास्त्र परस्पर सम्बद्ध उपकारक हैं।

साहित्य तो सभी विद्याओं का सरस निःष्पन्द है। अतः जब रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का विश्लेषण करना पडता है -तब शास्त्रालोक में ही यह सम्भव हो पाता है। काव्य ही नहीं, काव्यशास्त्र भी किसी भी शास्त्र की सहायता से ही अपना मन्तव्य स्पष्ट करता रहता है। ध्वनि को समझने के लिए हमें व्याकरण दर्शन की ओर जाना पडता है, "स्वाकार इव अभिन्नोऽपि" योगाचार बौद्धदर्शन की अपेक्षा करता है। एक रसवाद के लिए मीमांसा, न्याय, सांख्य,

---

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वैतवादी शैवागम शांकरवेदान्त, कश्मीरी अद्वयवादी शैवागम का ज्ञान अपेक्षित होता है। अपने को स्पष्ट करने के लिए हर शास्त्र दूसरे की सहायता लेता है। राजशेखर की "काव्यमीमांसा की समझ किस-किस शास्त्र का परस्पर संबद्ध होने के कारण अपेक्षा नहीं करती ? इस सन्दर्भ में एक उदाहरण लें। दशम अध्याय में कविचर्या और राजचर्या का प्रसंग है। इस प्रसंग में काव्य निर्माण के लिए कौन-कौनसी सामग्री सन्निहित होनी चाहिए -इस पर विचार करते हुए यायावर ने अपना पक्ष रखा.... "प्रतिभैव परिकरः" ... इति यायावरीय :।"

काव्य-निर्माण के लिए अपेक्षित "प्रतिभा" की विभिन्न पक्षीय विशेषताओं को स्पष्ट करने में किस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के पास हमें जाना पडता है ... यह आन्तरानुशासनिक प्रक्रिया से ही सम्भव है। सर्वप्रथम व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति से हमें ज्ञात होता है कि "प्रतिभायते यया सा प्रतिभा शक्तिः कवित्वबीजभूत संस्कार विशेषः।" जब लोचनकार "शक्तिः प्रतिभानम्" कहते हैं -तब उस प्रयोग को उपचारगर्भ ही माना जाना चाहिए। राजशेखर भी "शक्त्या संव्रियते कविः .."में आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त शक्ति के विषय में कहते हैं .... "शक्तिः शब्दश्च्या यमुपचारितः प्रतिभाने वर्तने"। करणव्युत्पत्ति से प्रतिभा शक्ति के अर्थ में ली जा सकी है- पर वास्तव में "प्रतिभाभावव्युत्पत्तिक शब्द ही है। "प्रतिभानं प्रतिभा" काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति ही प्रतिमा है। यह प्रतिभान शक्ति का कार्य है। "अर्थहरण" शीर्षक अध्याय में शब्दान्तर से "प्रतिभा" का ही विवेचन किया है। प्रतिभा सारस्वत चक्षु है --प्रतिभा सरस्वती का ही दूसरा नाम है। राजशेखर कहते हैं ... सारस्वतं चक्षुः वाङ्मनसगोचरण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।"तथा "सुप्तस्वापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जागृतीऽप्यन्धं चक्षुः।" अर्थात् -यह निश्चित है कि ज्ञानमय चक्षु वाणी और मन से अगोचर प्रणिधान समाधि के द्वारा स्वयं अपने आप निश्चय कर लेता है कि अमुक विषय स्पष्ट है या अस्पष्ट। सरस्वती महाकवि को सुषुप्ति अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। प्रतिभा के इस विवेचन को और बोधगम्य बनाने के लिए हमें न्याय-वैशेषिक तथा पातञ्जल दर्शन की सहायता लेनी होगी। यहाँ दो जिज्ञासाएं हैं --एक तो यह कि प्रतिभा से जो प्रभा होती है वह किस तरह के प्रमाण से होती है ? इसका उत्तर न्याय वैशेषिक देगा। वह कहेगा कि इसका समावेश प्रत्यक्ष प्रमाण में होगा। प्रत्यक्ष प्रमाण में योगजसन्निकर्ष भी आता है जो योगी के लिए है। योगजसन्निकर्ष से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"युक्त" को सर्वदा सबका भान होता रहता है और "युञ्जात" को चिन्ता करने पर व्यवहित का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। विष्णुपुराण में भी कहा है ---

"योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते।"

इसी तरह "प्राणिधान" के स्पष्टीकरण के लिए पातञ्जल शास्त्र के पास जाना होगा। योगसूत्र में "प्रणिधान" शब्द "समाधिपाद" और "साधनपाद" में क्रमशः ईश्वर प्रणिधानाद्वा तथा तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिं क्रियायोगः" सूत्रों में मिलता है। पर दोनों जगह उसका अर्थ "भक्ति" किया गया है। "यथाभिमतध्यानाद्वा" के संसर्ग या चित्त की एकाग्रता जैसे अर्थ भी, जो समाधिपरक है लगाया जा सकता है। वैसे भक्ति भी चित्त की अविक्षिप्त दशा ही है। "व्यासभाष्य" और "तत्त्ववैशारदी" सर्वत्र यही मिलता है।

जिज्ञासा यह भी हो सकती है कि प्रतिभा भास्वती मति है याने चित्त की ही स्थिति विशेष है या निरावरण चित् है या परम सत्ता की शक्ति-विशेष है? काव्यशास्त्र में सृष्ट्यर्थ अपेक्षित "प्रतिभा" काकेन सारूप संगत होगा? इन प्रश्नों का समाधान पाने के लिए हमें भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पास जाना होगा। सांख्य या पातञ्जल दर्शन में पुरुष तो चिन्मय है और बुद्धि के आठ धर्मो में से एक ज्ञान है। रूप या क्षणवर्ती क्रम में समाहित होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है -वह तारक या प्रातिभ ज्ञान है। एक प्रकार से यह भास्वर चित्त ही है। विवेकज ज्ञान की पूर्व दशा है ठीक वैसा ही जैसा सूर्योदय से पूर्व की प्रभा होती है। नागेश भट्ट ने पातञ्जल सूत्र (विभूति पाद का ३६ वां सूत्र) में प्रयुक्त "प्रतिभा" शब्द की व्याख्या करते हुए राजशेखर की तरह कहा है ---

"दृष्ट कारणं विनैवाक्स्माद् व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागत
सूक्ष्मार्थेषु यथार्थ ज्ञानसामर्थ्यं प्रतिभा।"

अर्थात् दृष्ट कारण के बिना ही व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत सूक्ष्म अर्थो के विषय में ज्ञान के सामर्थ्य को ही प्रतिभा कहते है। योगसाधना से ऋगिषगत ज्ञान या प्रतिभा आर्ष होती है जो ऋषि नहीं है उनमें यह सामर्थय होता है पर वह अनार्ष है। उत्तररामचरित में भवभूति ने ब्रह्मा से कहलवाया है --"अव्याहतज्योतिरार्षम् ते चक्षु : प्रतिभातु।" यह चित्त की भास्वर दशा ही है। योगकालतंत्र में इसे "प्रज्ञा" कहा गया है। न्याय, वैशेषिक और वैदान्त में प्रतिभा की आर्यदर्शन या आर्षचक्षु के पर्याय में ही कहा गया है। व्याकरण दर्शन में प्रज्ञा और प्रतिभा दोनों का प्रयोग है वहां उसे "पश्यन्ती के स्तर का माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गया है। यही स्रष्टा के स्रक्ष्यमाण की "दर्शना" भूमि है। सम्भव है भट्टतौत की "वर्णना" पूर्व "दर्शना" की यही भूमि हो। आगमों में "संवेद" का प्रयोग इसी के लिए मिलता है। राजशेखर ने भी "काव्यमीमांसा" में कहा है "या शब्दग्राममर्थ सार्थमलंकारतन्त्रयुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधि हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।" बहरहाल, सवाल यह है कि यह भास्वर चित्त है या और कुछ ? जैसा कि ऊपर कहा गया है जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार माना है कि जीव के शुभाशुभ कर्म उसके ज्ञानस्वरूप आत्मा पर आवरण है। इस आवरण के सहज अभाव से सहजा और कर्म द्वारा नाश से उत्पाद्या प्रतिभा आती है। वाग्भट भी जैन हैं वे भी सहजा को भी कर्म क्षय से ही मानते हैं। इस प्रकार इनके मत से वह प्रतिभा निरावरण चित्त है। ये लोग भी इसे प्रत्यक्ष ज्ञान ही मानते हैं।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जहाँ-जहाँ प्रतिभा की चर्चा है - सर्वत्र काव्योपयोगी अर्थ के प्रकाशक रूप में ही की है। कश्मीरी सम्प्रदाय प्रतिभा को प्रकाशिका ही नहीं, निर्मात्री भी मानता है। फलतः उन लोगों ने इसे चित् की शक्ति माना है। अभिनव कहतें हैं -

" यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्देनां प्रतिभां शिवाम्। "

शिव की शिवा ही प्रतिभा है। आनंद ने भी कहा है कि पुण्य-विशेषवश काव्य करने की मनोदशा बन जाने पर कवि को चाहिए कि वह अपनी सत्ता सरस्वती याने प्रतिभा को सौंप दे और स्वयं माध्यम बन जाय।

अन्ततः एक बिन्दु पर विचार करके इस प्रसंग को समाप्त करना है। इन उपर्युक्त विवरणों से निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिभा स्फुरण है- प्रकाशन है- प्रज्ञान है। पर कहीं-कहीं कहा गया है कि वह ऐसी प्रज्ञा है जो अपूर्ववस्तु का निर्माण करने में क्षम है- यानी निर्मात्री भी है। दर्शन उसका 'दृष्टिपक्ष' है और निर्माण 'सृष्टी' पक्ष। आर्ष-पक्ष में दृष्टि प्रत्यक्षीकरण ही है- पर अनार्ष-पक्ष में- प्रत्यक्षायमाण या उत्प्रेक्ष्यमाण- जैसा कि दशरूपक के टीकाकार धनंजय मानता है। निर्माण का जहाँ तक सम्बन्ध है-वर्ण्यवस्तु में काव्योचित लोकोत्तर असाधारणता उभारती भी है और आहित भी करती है। व्यापार-प्राधान्यवादी कुन्तक कहता है-

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः वन्दे द्वावपितावुभौ--

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात् वह वर्ण्यगत सूक्ष्मसुभग तत्त्व को उभरता भी है और रचता भी है। सहजा प्रतिभा पहला काम करती है और व्युत्पाद्या दूसरा।

इस प्रकार राजशेखर से प्रतिभा विषयक एक बिन्दु लेकर यह देखा गया कि काव्य के किसी तत्त्व को स्पष्ट करने में प्रत्येक शास्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं और सम्बद्ध होकर विषय को स्पष्ट करते हैं।

२,स्टेट बैंक कालोनी,
देवास रोड,
उज्जैन-४५६०१०

राममूर्ति त्रिपाठी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भागवत में रहस्यवाद

धार्मिक -जीवन एवं साधनात्मक क्षेत्र में रहस्यात्मक अनुभूतियों का होना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है तथा इस से उत्पन्न परम कोटि का संज्ञान संसार के प्रायः सभी धर्मों का प्राप्तव्य रहा है। यह वह संज्ञान है, जिसमें आत्मा परमात्मा से एकता स्थापित करती है, इसीलिए रहस्यवाद को मानव की उस प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है- जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा उस साक्षात्कार-जन्य आनंद एवं अनुभव का आत्मरूप में समस्त जगत् में प्रसारित करता है।[1] रहस्यवादी व्यक्ति नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति सम्पन्न होता है, जो निःस्वार्थ भाव से अपने सभी साधनों को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षनुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के पराबौद्धिक और अतीन्द्रिय आनंद आस्वादन की संभावना में विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है, जिसको साधना चैतन्य की, प्रत्यगात्मा की एक विशेष स्थिति में निरंतर संलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वयं प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। यह ज्ञान अथवा आत्म-संज्ञान साधारण भौतिक ज्ञान की अपेक्षा इतना अधिक स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संदेह का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या असीम तत्त्व के अनुभव को ससीम-बुद्धि व्यापार का विषय बनाया जा सकता है ? क्या यह संभव है कि जिसे अरूप और अनाम तत्त्व माना जाता है, उसे रूपों और नामों के माध्यम से अनुभव किया जा सके ? सामान्य मनुष्य का भी यह अनुभव है कि अरूप तत्त्व विभिन्न रूपों में प्रतिभासित हो जाता है। माता जब प्यार से अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनंद की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निःशेष भाव से आत्म -समर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। इन सबमें परमात्मा का स्वरूप होता है। विपत्ति में फँसे हुए किसी असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को संकटापन्न स्थिति में झोंक देने के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उल्लास से चंचल हो उठता है तो भगवान के निर्मल प्रेम-रूप का क्या परिचय नहीं मिलता ? प्रेम और स्नेह में, दया, माया, और त्याग-तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य ही मिलता है।[२] भागवत-दर्शन में रहस्यात्मक अनुभूतियों का यही आधार है। मनुष्य के प्रेम -स्निग्ध आचरण में ईश्वरीय महिमा की ही झलक हम पाते हैं। भक्त चाहे निर्गुण-भाव का साधक हो, या सगुण-रूप का उपासक, भगवान् के परम प्रेमी रूप को अवश्य स्वीकारता है। भगवान् का अनुभव-गम्य प्रेममय रूप ही श्रीमद्भागवत में रहस्यवाद का केन्द्र बिंदु है। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप तो उनका एक अंग मात्र है, जिसे तत्त्वज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और ऐश्वर्यमय रूप है, जिसे परमात्मा कहा जाता है, परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है, वह प्रेममय है। सगुण-मार्गी भक्तों द्वारा प्रतिपादित अवतार-सिद्धान्त भगवान् के इसी प्रेममय रूप पर आधृत है, जो असीम का सीमा में उपलब्ध करने का एक सुलभ साधन है।

प्रेम की पवित्रता

वैष्णव आचार्यों ने प्रेम की पवित्रता में ही भगवान् के वास्तविक रूप का अन्वेषण किया है। परम तत्त्व एवं श्रेष्ठतम पुरुषार्थ के रूप में ही आनंद अथवा भगवत्-प्रीति के स्वरूप का निरूपण किया गया है।[३] मानव का चरम लक्ष्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनाश होता है,जब भगवान् संतुष्ट हो जाते हैं, तभी व्यक्ति दुःख के अंतिम विनाश एवं नित्य सुख की प्राप्ति कर सकता है। जीव परमेश्वर में यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने एवं "माया"से आवृत होने के कारण उसके सत्य स्वरूप को जानने में असफल रहता है तथा आत्मगत् उपाधियों से संबंधित हो जाता है और दुःख भोगता है, किन्तु जब भगवान् के प्रति वह पवित्र प्रेम के बंधन को स्वीकार करता है, वह दुःखों का आत्यांतिक नाश करने में सफल हो जाता है। भगवान् में प्रीति द्विविध स्वरूप की हो सकती है। प्रीति भगवान् के प्रति वह स्पृहा हो सकती है, जो भगवान् के सत्य प्रत्ययं विषय-ज्ञान को उत्पन्न करती है। किन्तु भगवान् में प्रीति की एक अधिक अपरोक्ष अनुभूति भी होती है, जो प्रत्यक्ष रूप से एक तीव्र भावात्मक स्वरूप की होती है. इस प्रकार की "भक्ति" ही "रति" कहलाती है, जिसका वर्णन पवित्र प्रेम के रूप में किया जाता है।[१] "भागवत" में वर्णित श्रीकृष्ण एवं गोपियों का प्रेम , पवित्रता की इसी कोटि का है। जो लोग इस प्रेम पर वासना का आरोपण करते हैं, भ्रान्त मतों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का प्रतिपादन करते हैं। इस संदर्भ में प्रो.रानडे का कथन है : कृष्ण का गोपियों के साथ कभी कोई वासनामय संबंध रहा हो, ऐसी कल्पना करना भी कठिन है। परवर्ती युग के रचनाकारों ने जो अध्यात्मिक जीवन की यथार्थ प्रकृति से अनभिज्ञ थे, इस असत्य का अविष्कार किया। संभव यही प्रतीत होता है कि अपने रहस्यात्मक साक्षात्कार में प्रत्येक गोपी ने भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये और भगवान् ने अपने आपको उन सबके सम्मुख इस प्रकार प्रकट किया कि सबने एक ही समय उनके आनंद का उपयोग किया। यह गोपियों की सामाधिक रहस्यात्मक ब्रह्मानंद की स्थिति है। भगवान् के साथ वासनामय संबंध संभव नहीं है, और न ही रहस्यवाद में वासना के लिए कोई स्थान ही है।[५]

जीव-ब्रह्म-एकता

रहस्यवादी सम्पूर्ण प्रकृति के लीला-विलास में एक परा चेतना को अनुभव कर आनंदित होता है, साथ ही जीव और ब्रह्म की एकता पर विश्वास करता है। ''भागवत'' में बहुश : जीव -ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है तथा पूर्ण काम अद्वैत में लीला रहस्य से आनंद प्रस्फुटन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।[६] "भागवत'' में वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि जितने भावों का प्रतिपादन किया है, सभी का केन्द्र प्रपत्ति माना जाता है। प्रपत्ति की धारणा से निर्मल अंतःकरण होते-होते देहाध्यास मिटने लगता है तथा उपाधियों का त्याग करते-करते प्रत्यगात्मा और परमात्मा की एकता की प्रतीति होने लगती है, तब उस समता में सखा-भाव ओर गोपियों के पक्ष में सखी-भाव नित्य के लिए नहीं, किन्तु अल्प काल के लिए संभव है। नित्य के लिए इसलिए संभव नहीं कि संबंध द्वैतसापेक्ष्य ही होता है, अद्वैत में नहीं, किन्तु उपाधि-भेद से ही आत्म-भेद है- इसे तात्त्विक नहीं माना गया है। पुरंजन के सखा ने यही स्पष्ट किया है।[७] अतः सूक्ष्म उपाधि के रहने पर ही सखादि भाव रहेगा, उपाधि के पूर्ण विलय होने पर सभी भाव नष्ट हो जाते हैं, घट की नितांत निवृति होने पर आकाश से कोई संबंध नहीं हो सकता। किन्तु अर्जुनादि तथा गोपी आदि के भाव में एक अंतर माना जाता है , प्रथम ज्ञान स्वरूप है, जिसमें चित् की एकता है तथा द्वितीय अज्ञान स्वरूप है, जिसमें शरीर-संबंध भी है, तथापि एकता है।

भागवत में रहस्यवाद का स्वरूप

पुराण के रूप में श्रीमद्-भागवत का रचना-तंत्र ही रहस्यवादी पद्धति पर है। इस ग्रन्थ में कथाओं और संवादों का नियोजन रहस्यवादी जिज्ञासाओं के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आधार पर किया गया है। "भागवत" में जितने गुरू-शिष्य-रूप संवाद के रूप में सत्संग का वर्णन है, उसमें आत्म-रति तथा अनात्म-विरति साधन रूप तत्त्वों का परोक्ष या अपरोक्ष प्रत्याख्यान किया गया है। विदुर-उद्धव संवाद में श्रीकृष्ण के गोकुल मथुरा द्वारकादि के चरिताख्यानों के संबंध में जिज्ञासा की गई है, जिसके समाधान स्वरूप कथा-श्रवण का सत्संग है। बाद के अवतरणों में उद्धव जी से तत्त्वज्ञान के संबंध में जिज्ञासा की जाती है, जिसका समाधान विदुर-मैत्रेय संवाद में है। कथा-जिज्ञासा उद्धव जी से शांत होती है तथा तत्त्व जिज्ञासा मैत्रेय जी से। अतः भागवत के कथा प्रसंगों का अर्थ अवतार जीवन चरित ही नहीं होना चाहिए, प्रत्युत् इन प्रसंगों में साधक की भूमिका के अनुसार तत्त्व-कथा का भी रूप है। "भागवत" के दशम स्कंध में शुकदेव मुनि लीला-कथा कहते हैं तो एकादश स्कंध में तत्त्व कथा उपदेश करते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि "भागवत" के सत्संग -संवाद प्रायः रहस्यात्मक एवं तत्त्वपरक ही हैं। निश्चित रूप से इसके समाधि-योग में सगुण -ध्यान का ही निर्देश किया गया है, यही स्थान सत्संग-सेवाओं का है, जिसमें लीलाचरित पहले है, तत्त्व जिज्ञासा बाद में। सगुण-रूप ध्यान सिद्ध होने पर मन उसमें स्थिर होता है, तथापि "भागवत" में यह निर्देश दिया गया कि मन को उससे हटा कर आकाश में लगाना चाहिए। इस तरह भागवत-दर्शन में अवतार -लीला क्रमशः भगवान की विराट् लीला में परिणत होती है और भगवान का जब माया से संबंध नहीं रहता, तब भगवान की लीला भी निवृत होी जाती है। "भागवत" के रचना-तत्रं में इस तरह लीला -कथाओं के माध्यम से रहस्यात्मक अनुभूतियों के विकास की ही ओर संकेत किया गया है तथा अधिकांश कथाओं में जीवन का परम सत्य भगवान में खोजा गया है।

गोपी-प्रेम : रहस्यवाद का ऊर्ध्व शिखर

भागवतीय रहस्यवाद मूलतः प्रेम-तत्त्व प्रधान कहा जा सकता है। प्रेम ही साधन और साध्य दोनों माना गया है। उसी प्रकार से जैसे ज्ञान साधन और साध्य दोनों हैं - एक सत्त्व गुण रूप तथा दूसरा चित्तत्त्व स्वरूप, प्रथम मनोवृत्ति रूप है, द्वितीय वृत्तियों से परे हैं, दोनों प्रेमों में वैसा ही अंतर है, जैसा साधन-साध्य रूप ज्ञान में प्रथम ज्ञान का त्याग हो जाता है, वह अज्ञान का नाशक है, किन्तु द्वितीय आत्म-स्वरूप ज्ञान "गृहण-त्याग से रहित" नित्य सिद्ध माना गया है।[८] इसी प्रकार साधन -रूप प्रेम विषय -प्रेम का नाशक है, किन्तु तत्त्व-रूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रेम अद्वैत स्वरूप है। "भागवत" में आत्मा को ही साध्य-स्वरूप प्रेम कहा गया है।[१] प्रियतम के प्रति हृदय की सहज गति ही प्रेम है, जैसे अपने अपने विषय के प्रति इंद्रियों की प्रवृत्तियाँ होती हैं। कामी की मनः प्रवृति कांता के प्रति होती है, धर्मार्थी की धन के प्रति, जल की निम्न स्तर के प्रति वृत्ति होती है। यह मनः प्रवृत्ति केवल प्रियतम को ही चाहती है। इसके लिए प्रियतम के अतिरिक्त अशेष विषय विषवत् ही नहीं जाते, अपितु असत् भी हो जाते। भागवतीय रहस्यवाद का यही तात्त्विक स्वरूप कहा जा सकता है, जिसमें प्रेमी को परम तत्त्व रूप से ब्रह्म लक्षित होता है, ब्रह्म के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं देखता, प्रियतम ही उसका ब्रह्म हो जाता है। इसीलिए ब्रह्म को प्राप्त करके भी साधक ब्रह्म को नहीं माँगता, वह माँगता है केवल प्रेम। उसके लिए समस्त पूजन -विधि, उपासना आदि साधन गौण हो जाते हैं। उसके अशेष इंद्रियों के क्रिया व्यापार श्रेष्ठ के लिए ही होते हैं, उसके कर्ण उसी के गुण सुनना चाहते हैं, नेत्र उसी के दर्शन पाँव उसी की ओर हैं तथा हाथ उसीं के कार्य करना चाहते हैं। इस प्रकार इंद्रियाँ सर्वत्र समवेत होकर प्रियतम का ही अनुगमन करती है, जैसे अशेष सरिताएँ सागर की ओर ही जाती है। "भागवत" में गोपियों का प्रेम ऐसा ही है, उनकी प्रेम-प्रवृत्ति का फल श्रीकृष्ण को ही प्राप्त करना है। श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त करने के लिए के अशेष दुःख को सहर्ष स्वीकार करती हैं। श्रीकृष्ण के लिए वे विश्व के निखिल वैभव को त्याग देती हैं। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की प्रबलता के कारण उन्हें सम्पूर्ण विश्व ही कृष्णमय दिखलाई देता है और दुःखों की प्रतीति ही नहीं होती। श्रीकृष्ण से इतर उन्हें किसी रस का बोध नहीं होता। गोपियाँ सर्वत्र परम प्रियतम का आनंद अनुभव करती हैं, श्रीकृष्ण की ओर ही जाती हैं, उन्हीं का सेवन -भजन चाहती हैं, चाहे लोक निंदा करे, चाहे स्तुति। जिसमें प्रियतम के आनंद की अनुपस्थिति होती है, वे सबका त्याग करती है।

भावात्मक और अभावात्मक साधन

'भागवत' में भावात्मक और अभावात्मक दोनों साधन -विषय से मुक्त होने के लिए ही हैं। भावात्मक साधन में सगुण स्वरूप के ध्यान द्वारा विषयों की ओर से मन को नियंत्रित करना होता है तथा अभावात्मक साधन में अशेष दृश्य मात्र को माया मात्र जानकर उसका त्याग करना होता है। सगुण ध्यान भी वस्तुतः प्रियतम का चिन्तन नहीं है; अपितु विषय से मुक्त होने के लिए मन को निर्विषय स्थान में ले जाने का अभ्यास मात्र है। भागवत-प्रेम की प्रथम भूमिका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के रूप से लोक-विषय-ग्राह से अपने को छुडाना सम्मुख आता है। बिना विषय-विमुक्ति के प्रियतम आत्मा की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अध्यात्म पथ में विषयों से मोक्ष ही ध्येय होता है तथा यही मोक्ष-स्वरूप स्थिति है। विषयों से मुक्त होने पर फिर जीव को प्रियतम के आनंद के लिए भावात्मक प्रयास भी नहीं करना पडता। श्रीकृष्ण में गोपी मनोवृत्ति है, जिसमें से विषय या काम को निकाल देने से शुद्ध चैतन्य-वृत्ति ही शेष रहती है,जिसे 'भागवत' में निर्गुण या पराभक्ति कहा गया है।[१०] इसमें भगवान् का स्वरूप सर्वात्म-स्वरूप हो जाता है। इसीलिए भागवतकार इस भक्ति या प्रेम के विषय को शुद्ध "सत्त्व"कहते हैं।[११] इसमें भक्त के आत्म-रूप और समस्त विश्व के आत्म-रूप परमात्मा एक हो जाते हैं। प्रत्यगात्मा की परमात्मा या सर्वात्मा से अभिन्न अनुभूति ही 'भागवत'में प्रेम-समाधि है, जिसमें समस्त जीव कोश ध्वस्त हो जाता है, समस्त स्थूल-सूक्ष्म अहंकार का, देहाध्यास का नाश हो जाता है, अशेष उपाधियों का लय होकर शुद्ध चैतन्य मात्र ही शेष रहता है। इसी अवस्था में ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है। ब्रह्म (श्रीकृष्ण)और आत्मा (गोपियाँ) की एकता की यह अनुभूति ही "भागवत" में परम प्रेम है।

प्रेम-समाधि

"भागवत" में सगुण ध्यान का फल यद्यपि मनोनिग्रह मात्र है, तथापि इस निग्रह का फल निग्रह में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र भगवद्-दर्शन में है। तात्त्विक समाधि तो मन की निर्विषय स्थिति होती है। यह ज्ञानमयी स्थिति नहीं है, किन्तु इसे सुषुप्तिवत् अज्ञानमयी स्थिति भी नहीं कह सकते, यह निग्रहात्मक अथवा प्रपंचों से अभावात्मक स्थिति है। इसमें जल के भीतर कमलपत्रवत् साधक की स्थिति नहीं होती। जल के भीतर कमल पत्रवत् स्थिति ज्ञान से होती है, जिसे प्राप्त करने के लिए समाधि आदि निग्रहात्मक साधन का अनुसरण किया जाता है। भागवतोक्त प्रेम-समाधि इससे भिन्न स्थिति होती है। कुछ न देखना (तात्त्विक समाधि)सिद्धि नहीं, अपितु सब कुछ आत्मा-भाव से देखना (प्रेम-समाधि) सिद्धि है। भागवत-दर्शन में सर्वत्र आत्म-भाव सबको भगवद्-भाव से देखना, सर्वत्र भगवान् है, ऐसा देखना ही वास्तव में समाधि है। इसमें द्वैत का आत्यंतिक लय हो जाता है, सम्पूर्ण संसार असद् और एकमेव भगवान् ही सद् हो जाते हैं। अशेष दृश्य-अदृश्य विषय आत्मा ही है-ऐसा आत्मभाव भागवतोक्त समभाव है। यह सम-भाव अद्वैतभाव ही जीवित जागृत समाधि है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सगुण ध्यान का फल है। सर्वत्र आत्म-दर्शन होने पर प्रेम और परमानंद अपनी सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे प्रियतम को प्राप्त करने पर लोक में होता है, किन्तु लोक का प्रियतम परिछिन्न होता है, अतः लोक का प्रेमानंद भी परिछिन्न माना जाता है, अतः वह विकारग्रस्त है, नश्वर है, किन्तु जब प्रियतम नित्य अपरिछिन्न सर्वव्यापी हो जाता है, तो प्रेमानंद भी अपरिछिन्न,सदैव, सर्वत्र, अमृत, अविकारी, एकरस हो जाता है। यहाँ विधि निषेध की कोई सीमा नहीं होती। विधि-निषेध तो द्वैत जगत के नियम हैं, अद्वैत जगत में यह अस्तित्व रहित है। प्रेम-समाधि रूप अद्वैत-भाव में विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-द्वैष, हेयोपादेय आदि अशेष द्वन्द्वों की आत्यांतिक निवृत्ति हो जाती है।

सर्वात्म -भाव-और सदाचार

भागवतोक्त परम प्रेम में विलक्षण सक्रियता और सर्जनात्मकता होती है। सर्वत्र आत्म-भाव की स्थिति में पुरूष निष्क्रिय नहीं हो जाता, वह पुण्याचारी और पापाचारी-दोनों भी नहीं होता। ऐसा महापुरुष स्वभाव से ही सदाचारी होता है, वह विश्व की आत्मा हो जाता है। वैसे ही जैसे लोक-पुरुष अपनी देह की आत्मा होता है। विश्वात्मा महापुरुष स्वभावतः सदाचारी ही होता है। उसका कोप, काम, दंड, समस्त सक्रियता, लोकवत् आचरण लोक-कल्याणार्थ ही होता है। वस्तुतः यह लोक-कल्याण भी उसकी दृष्टि में नहीं होता। उसकी दृष्टि में तो स्वेतर लोक की सत्ता ही नहीं है,अतः तत्कल्याण भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह आत्म कल्याण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा के लिए हानिकारक कोई तत्त्व नहीं है, जिसके प्रतिकार स्वरूप आत्म-कल्याण किया जाय। तथापि 'भागवत' में लोकदृष्टि से "लोक-कल्याण" पद का प्रयोग किया गया है। विश्वात्मा महापुरुष की अशेष क्रियायें निखिल सर्जनात्मकता बिना निमित्त के होती हैं, स्व-चैतन्य स्वरूप होती हैं, हानि-लाभ की इसमें कोई अपेक्षा नहीं होती।[१२] यह सब आत्म-विलास है, स्वरूप है, इस आत्म-विलास के लिए ही 'भागवत'में लोक-दृष्टि से ही लीलादि पदों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः विलासादि समस्त क्रियायें भी उस महापुरुष की नहीं होती। जो कुछ भी उसमें लक्षित होता है, वह सब केवल वही महापुरुष है, जिसके रूप को परिछिन्न दृष्टि से देखने वाला लोक-पुरुष अपनी आत्मा की उपाधि के अनुसार नाना नाम-रूप प्रदान करता है।

स्वरूप की अभिव्यक्ति

वाणी से उस महापुरूष के स्वरूप का वस्तुतः वर्णन नहीं हो सकता,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि वाणी द्वैतविषय का ही वर्णन कर सकती है। यह वाणी द्वैतमयी भाषा में ही अद्वैत को स्पष्ट करने का प्रयास करती है। वाणी अंश का ही निरूपण करती है। सर्वांश का नहीं। अतः महापुरूष के स्वरूप के विषय में अनुभव का ही प्रमाण माना जाता है, वाणी की वही दशा होती है, जो नमक में जल की। सर्वात्म के विषय में लौकिक पुरूष को समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि ब्रह्म में एक साथ विरुद्ध भाव की प्रतीति होती है। वह भोग भी करता है, किन्तु भोगी नहीं, कर्म करता है, किन्तु कर्ता नहीं।[१३] तर्क-बुद्धि से सब विरोधाभास है, किन्तु आत्म-भाव में यह सब स्वरूप की अहैतुकी अभिव्यक्ति मानी जाती है।[१४] महात्मा के सारे क्रिया-कलाप आत्मा में आत्मा के लिए ही होते हैं, इसीलिए भगवान् की सारी सृष्टि-क्रिया का वर्णन किया गया है।[१५] सर्वात्म भगवान के दर्शन करने वाले महात्मा को ही भागवत में "आत्माराम" कहा गया है।[१६]

प्रेम और अद्वयानुभूति

भागवत-दर्शन का रहस्यवाद प्रेम और अद्वयानुभूति का सिद्धान्त लेकर चलता है। आत्म-दर्शन में ही प्रेम की पराकाष्ठा मानी गई है। वास्तव-प्रेम से ही भगवान का सही दर्शन होता है और बिना सही दर्शन के प्रेम हो ही नहीं सकता। यही भागवत में प्रेमाद्वैत तत्त्व है।[१७] यह प्रेमाद्वैत तत्त्व सर्वत्र आत्मानुभूति रूप है। इस प्रेम और आत्म-ज्ञान में कोई अंतर नहीं है। लोक लौकिक ढंग से भक्ति का स्वरूप समझाने के लिए ही 'भागवत' में प्रेम का उदाहरण, गोपी-अभिसार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लोक-भाषा में जो प्रेम है, वह अध्यात्म-शास्त्र में भक्ति ही है, इसीलिए "भागवत" में अधिकांशतः भक्ति पद का ही प्रयोग किया गया है। प्रेम-पद प्रयोग में भक्ति का ही पर्याय माना गया है। सहजा-भक्ति को ही "भागवत" में प्रेम-पद-प्रयोग से स्पष्ट किया गया है, फिर इस "प्रेम" से उपासना की भी व्याख्या की गई है। इस प्रकार भागवतीय रहस्यवाद में प्रेम और पराभक्ति को एक ही माना गया है, और संभवतः इसी दृष्टि से गौडीय आचार्य प्रेम की ही साध्य तत्त्व मानते हैं।[१८]

निष्कर्ष

श्रीमद्भागवत में रहस्यवादी तत्त्वों का विकास उसके भक्ति-सिद्धान्त के समानान्तर ही हुआ है। यही कारण है, 'शांडिल्य-भक्ति-सूत्र' और 'नारद-भक्ति सूत्र' के समान ही श्रीमद्भागवत को भी मूलतः एक रहस्यवादी ग्रन्थ के रूप समादृत किया जाता है। प्रोफेसर रानडे ने "भागवत" को भारत के प्राचीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहस्यवादियों के वर्णन एवं भावोद्‌गारों का भंडार कहा है।[१९] इस ग्रन्थ में बहुशः चरित्र रहस्यवादी साधक के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। राजकुमार ध्रुव, भक्त प्रल्हाद आदि उच्च कोटि के रहस्यवादी साधक माने जाते हैं। ध्रुव अपनी विमाता से अपमानित होकर राज्य और संसार का परित्याग करता है। अपमान से संतप्त होकर वह वन-गमन करता है, जहाँ अध्यात्मिक शिक्षक के रूप में उसे नारद जी मिलते हैं, जिनसे वह भागवत-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर परम तत्त्व का साक्षात्कार करने में सफल होता है। भक्त प्रल्हाद का भगवत्-प्रेम अनेकश विपत्तियों के बीच भी अक्षुण्ण बना रहता है। अग्नि से जलाए जाने पर, पहाड से गिराये जाने पर भी उसकी भक्ति-भावना अविचलित रहती है और वह सर्वात्म-दर्शन में सिद्ध होता है। भगवद्-दर्शन होने पर उसने कुछ न माँग कर यही वर माँगा कि उसमें कभी कोई इच्छा न उत्पन्न न हो-वह सर्वदा निष्काम बना रहे।[२०] उद्धव भगवान के मित्र हैं, जिनकी रहस्यवादी अनुभूतियाँ अत्यंत उच्च कोटिं की है। कुब्जा पहले श्रीकृष्ण के प्रति वासनामय प्रेम से आकृष्ट होती है, परन्तु श्रीकृष्ण उसकी वासना की पंकिलता को नष्ट कर उसे परम प्रेम की पवित्रता प्रदान करते हैं। अंततः वह भगवान को प्राप्त होती है। समुद्र में ग्रह द्वारा ग्रसित वह गजराज जिसने आर्त होकर भगवान को पुकारा, एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार मूक, ज्ञानहीन, जड़बुद्धि पशु की भक्ति से रक्षा होती है और भगवान उसके संकट-काल में आकार उस पर भी अनुग्रह करते हैं। निर्धन भक्त सुदामा, जिसके पास दो मुट्ठी तंदुलों के अतिरिक्त कृष्णार्पण करने को कुछ नहीं था, भगवान से वर प्राप्त कर सुवर्ण नगरी का अधिपति बन गया, भी उत्तम कोटि का रहस्यवादी साधक है। अधम, पातकी अजामिल,जो निम्नजाति की स्त्री के प्रति आसक्त था, मृत्यु के समय भगवान के नामोच्चार मात्र से सिद्धि-लाभ करता है, रहस्यवाद की भूमिका ही प्रस्तुत करता है। ऋषभदेव उस कोटि के रहस्यवादी हैं, जिनकी पूर्ण-आत्म-विस्मृति उनके भगवत् साक्षात्कार का प्रमाण प्रस्तुत करती है। वे पृथ्वी का साम्राज्य अपने पुत्र भरत को सौंप कर मूक-बधिर अवधूत की तरह संसार से निर्लिप्त होकर अभ्यारण्यो में भ्रमण करते हैं। लोगों ने उन्हें हर तरह से अपमानित किया, किन्तु वे अपनी साधना से स्खलित नहीं हुए और सतत् समाधि-भाव को प्राप्त हुए। अंततः दावाग्नि में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया। 'भागवत'में दत्तात्रेय भी उच्च कोटि के रहस्यवादी साधक हैं, जो अपने चौवीस गुरूओं से विभिन्न प्रकार के गुण ग्रहण करते हैं, जैसे पृथ्वी से क्षमा, सागर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

से गांभीर्य, वन से परोपकार तथा वायु से अनासक्ति आदि। इन विभिन्न गुणों का वे स्वयं अपने जीवन में समन्वय भी करते हैं। शुकदेव मुनि, जो भागवत के दार्शनिक रहस्यवादी सिद्धान्तों के प्रवक्ता हैं, स्वयं एक उच्च कोटि के रहस्यवादी हैं, जो उस दर्शन को व्यवहृत भी करते हैं, जिसकी वे शिक्षा देते हैं। उनके रहस्यवादी उद्‌गारों से ही श्रीमद्‌भागवत की रचना हुई है। 'भागवत' के दशम स्कंध के अष्टम् अध्याय में उनकी वे शिक्षाएँ निहित हैं, जिनमें वास्तविक रहस्यवादी जीवन के लिए अपेक्षित भक्ति, अध्यात्मिक शिक्षक, सत्संग आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

द्वारा-डॉ.रामदास शर्मा
पुरानी बस्ती, कायस्थ पारा,
रायपुर, (म. प्र.)

विजयकुमार शर्मा

टिप्पणियाँ

१. डॉ. रामनारायण पांडेय भक्ति काव्य में रहस्यवाद २०
२. डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी, वही, भूमिका -६७
३. जीवगोस्वामीः 'षड्‌संदर्भ' के अन्तर्गत प्रीति-संदर्भ
४. भगवद्विषयानुकूल्यात्मकर-तदनुगत स्पृहादिमयो ज्ञान
विशेष तत्प्रीति -वही, प्रीति -संदर्भ
५. प्रो.रानडे मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र।
६. भागवत -४-२८-६२,-४-२२-३७
७. वही, ३१७-२-७
८. न गृह्यते नापि विसृज्यते -वही, ११-२८-३३
९. वही, १-२-११, ११-२७-२५, ११-२६-११
१०. वही, ३-२५-३२-३३, ३-२९-१२
११. वही, ३-२३-३२
१२. वही, ११-७-११-१२, ११-१८-३६
१३. तुलनीय -बिनु पग चलहिं, सुनहि बिनु काना,
बिनु करहिं करम विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी,
बिनु बानी वक्ता बड़ा जोगी॥ तुलसीदास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१४. डॉ. राम तिवारी- श्रीमत्भागवत में प्रेम तत्त्व-३४६
१५. भागवत, ११-२८-६
१६. वही, ६-१६-४०, ११-२०-२३-३०-४४
१७. (अ) सोऽस्मि ४-२२-३७ (ब) तवभेवात्म ४-२८-६२
(स) परात्मैक दर्शनम् ६-१६-६३
१८. डॉ. राम तिवारी
१९. प्रो. रानडे -८
२०. भागवत- ८-८-१०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७.
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुभाषचन्द्र. भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीभगवद्गीता में-उदात्तता

Sublime अर्थात् विराट-उदात्त-अद्‌भुत यह सौंदर्यशास्त्र में प्रचलित ऐसी एक संकल्पना होने के कारण सर्वप्रथम जैसे 'सुदंर वस्तुसे हमें आनंद मिलना चाहिए' यह नियम यहाँ भी लागू होता है। किंतु सुंदर वस्तुसे जो आनंद प्राप्त होता है वह सुख पर आधारित होता है, जबकि विराटता, उदात्तता से जो आनंद मिलता है वह दुःख, या भय आदि पर आधारित होता है। अर्थात् यहाँ आनंद याने उस में पूरी तरह से समा जाना होता है।

सुख की दशा में मनुष्य हर चीज से बेखबर होता है लेकिन एक हलका सा दुःख उसे अपने के बाहर की याद दिला देता है। इसीलिए दुःख में "अरे बाप रे!", "ओ माँ!" "हे भगवान!" जैसे उद्‌गार निकलते हैं। और जब यही दुःख अत्यंत उग्र रूप धारण करता है तब उसे स्वयं को बचाने की भावना और अपने भीतर की अपूर्णता की भावना, अपने से बाहर की अपरिमित शक्ति का अहसास दिलाती है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है। जिसका अनुभव तो उसे नहीं होता किंतु वह अपने मन में उसकी कल्पना कर सकता है। जैसे एक-एक अंश को जोड के पूरी समष्टि होती है। जब कोई भी बात अपने अनुभव की अपेक्षा परिमाण में विस्तरित, ये बड़ी होती है। तब वह शक्ति में भी महान् होती है, कारण भय की भावना जागृत होती है। क्योंकि नित्य अनुभवों में ऐसा कुछ नहीं होता। 'हेगेल' के अनुसार विराट, सुंदरता की दहलीजपर होता है, जहाँ अनुभव की सीमारेखा खत्म होती है वहाँ से विराट की शुरूआत होती है। तब उसमें भय, आश्चर्य आदि भावनाएँ जागृत होती हैं। ऐसी घटनाओंसे हम आकर्षित तो जरूर होते हैं लेकिन उसके प्रति भय और उससे दूर जाने की इच्छा भी होती है। फिर भी हम उससे दूर नहीं जा पाते।

हमारे सभी अनुभवों की समष्टि जो व्यावहारिक धरातल पर संभव नहीं होती किंतु कल्पना में हो सकती है। इसीलिए विराटता का वास हमेशा मनुष्य मे मन में होता है। प्रकृति का हमारा अनुभव उस समष्टिका एक अंश होता है, जो हमें उद्दीपित करता है। और दूसरी ऐसी बातों का आनंद लेने के लिए हमें उसका घटक नहीं होना चाहिए। क्योंकि शुद्ध आनंद आस्थानिरपेक्ष होता है। वह हमेशा कला में या फिर मनुष्य के मन में वास करता है। मन की कल्पनाओं को तंत्र से जोडने से कला की निर्मिति होती है। इसीलीए विराटता को हम परदे पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या, काव्य में और साहित्य में दिखा सकते हैं। ऐसा ही एक रूप 'भगवद्गीता' में हमें दिखाई देता है जिसका मैं यहाँ उल्लेख करना चाहूँगी।

किसी भी वस्तु या घटना का तीव्र प्रगटीकरण या व्यक्तीकरण उस वस्तु या घटना की सौम्यता , जो कि सुंदरता का प्रमुख लक्षण है, नष्ट करती है।किसी नदी के पानी का झर-झर बहना आल्हाददायक लगता है। किंतु वही नदी का पानी जब रौद्र रूप धारण करता है, या अपनी सीमाओंका उल्लंघन करता है तब वह दृश्य देख कर हमारे मन में शुद्ध आनंद की भावना का निर्माण न होकर भय की भावना जागृत होती है, और प्रकृति की महान् शक्ति एवं सामर्थ्य का हमें अनुभव होता है। प्रकृति की इस अनिवार्य एवं अबाधित शक्ति से हमें 'प्रकृति के हाथ की कठपुतली होने का, दुर्बल होने का अहसास होता है और साथ ही उसमें आदरयुक्त भय की भावना अंतर्भूत होती है।

श्रीकृष्ण का विश्वरूप भी इसीप्रकार का एक तीव्र प्रगटीकरण या व्यक्तीकरण है। यह असामान्य और अपरिमित रूप देखकर अर्जुन चकित हो गडबडा गया और तब उसके मन में भी श्रीकृष्ण के प्रति आदरयुक्त भय की भावना जागृत हो गई।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ भ.गी.११-१०

उपर्युक्त पंक्तियों में अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुख और असंख्य नेत्र देखे। और वह विश्वरूप अनेकानेक दिव्य, तेजस्वी अलंकारों से विभूषित और अनेक दिव्य वस्त्रोंसे सुशोभित था। वह विश्वरूप प्रचंड, अपरिमित सर्वव्यापी और अनंत था। सामान्यरूप से अनुभव न आनेवाली बातों का अनुभव अर्जुन को उस विश्वरूप के दर्शनसे प्राप्त हुआ जो पूरी तरह आश्चर्य से परिपूर्ण था।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहुरूपादम्।
बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोका :प्रव्यथितास्तथाहम् भ.गी.११-२३

उपर्युक्त पंक्तिओं के द्वारा अर्थात् जिसे असंख्य मुख एवं आँखें हैं, जिसे असंख्य बाहु और जांघ तथा पैर हैं, और उसके बहुत सारे पेट हैं। तथा अनेक दातों की वजह से वह बहुत ही भयानक दिखाई दे रहा था। ऐसा असामान्य एवं भयानक रूप देखकर अर्जुन व्यथित और भयभीत हो उठा था। परंतु यह डर वास्तविक न होकर उसके स्थान पर अर्जुन को अपनी दुर्बलता और श्रीकृष्ण की अपरिमित सामर्थ्य के कारण मन में आदरयुक्त भय की भावना पैदा हुई थी। यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावना भी किसी 'विराट' या उदात्त के दर्शन से निर्मित भावना जैसी होकर भी वास्तविक भय की भावना नहीं होती।

मान लो, बडे जोर से हवा चल रही है, बादलों की गडगडाहट के साथ बिजली चमक रही है और मूसलाधार वर्षा हो रही है, जिसके कारण रास्ते की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी है। यह दृश्य जब हम अपने घर में बैठकर देखते हैं अथवा हम उस परिस्थिति का शिकार नहीं हैं। उसी तरह से यदि उस परिस्थिति का हमपर प्रत्यक्ष परिणाम न हो रहा है तब हमारे मन में जो भय, या डर की भावना जागृत होती है वह केवल भय की भावना नहीं होती, उसे ही हम विराटता या उदात्तता की भावना कह सकते हैं। जिसमें हमें प्रकृति के अबाधित, सामान्य, प्रचंड सामर्थ्य अथवा शक्ति का अनुभव होता है। उस समय जिस भावना का निर्माण होता है वह आदारयुक्त भय की भावना होती है। या यों कहिए कि जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी द्वीपपर खड़ा हो ओर पानी ही पानी फैला हुआ हो ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के मन में बेचैन करने वाली भावनाएँ उत्पन्न होंगी। उसे दिशाओंका ज्ञान नहीं हो पाएगा। और जबतक वह इस परिस्थिति से बाहर नहीं आएगा तब तक उसे शुद्ध सुख या आनंद का अनुभव नहीं पायेगा। उसी तरह जैसे पहले भी देखा नहीं, जिसका अनुभव किया नहीं ऐसा अनिर्बंध, अमर्याद और असामान्य विश्वरूप देखकर अर्जुन के मन में आनंद की अनुभूति तो होती है किंतु यह आनंद शुद्ध नहीं था, उसमें भय और व्याकुलता की भावनाएँ भी अंतर्भूत थी। जिसके कारण वह श्रीकृष्ण को अपना पहला रूप प्रकट करने की बिनती करता है। इससे यह स्पष्ट होता है की इस विश्वरूप से आकृष्ट होने के बावजूद भी वह उससे दूर जाने की इच्छा कर रहा था।

इसी तरह का भयमिश्रित आनंद हमें विराटता के अनुभव में भी होता है। यह सच है कि हम विराट चीजों की तरफ आकृष्ट होते हैं, किन्तु हम उनसे दूर जाने की इच्छा भी करते हैं। अर्थात् उसमें आनंद के साथ आनंदविरोधी भावना का भी मिश्रण रहता है। जिसे हम नकारयुक्त आनंद भी कह सकते हैं। जैसे बाढ आई हुई नदी में एक नाव फँसी हुई है, और हम उस परिस्थिति का शिकार न होकर दूर से यह दृश्य देखते हैं तब हमारे मन में इसी तरह की भावनाएँ जागृत होती हैं। हमारे मन में आनंद की भावना जागृत होती है क्योंकि हमें इसका ज्ञान होता है कि इस भयानक परिस्थिति का हम शिकार नहीं हैं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और दूसरे प्रकृति की इस अनिर्बंध शक्ति की अनुभूति हमारे मन में भय जागृत करती है।

इसी तरहका अनुभव हमें तब होता है जब हम प्रकृति के रौद्र रूप का, जैसे - भूकंप, नदी में बाढ, समंदर में तूफान आदि का अनुभव करते हैं। किंतु प्रकृति की इन घटनाओं का संपूर्ण दर्शन होना संभव नहीं होता। क्योंकि मनुष्य की पाचों ज्ञानेंद्रियोंकी क्षमता की कुछ सीमाएँ होती हैं। इंद्रियों की क्षमता की मदद से हमें विशिष्ट और सान्त, मर्यादित घटनाओं, या चीजों का ही ज्ञान हो सकता है। परंतु कुछ घटनाएँ अथवा कुछ चीजें इन मर्यादाओं के परे समाष्टि के रूप में, अमर्यादित, अनंत रूप में होती हैं उनका प्रत्यक्ष अनुभव इन ज्ञानेंद्रियोंसे होना संभव नहीं होता है।

अर्जुन को जिस विश्वरूप का दर्शन हुआ वह इतना भव्य, दिव्य और विराट था कि उसका वर्णन अगली पंक्तियों में स्पष्ट होता है। जैसे

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्त त्वयैकेन दिशाश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ भ.गी.११-२०

वह रूप इतना भव्य, प्रचंड, एवं अपरिमित था कि उसने पृथ्वी और आकाश के बीच की दूरी को घेर लिया था। इसलिये वह रूप प्रचंड, अद्भुत और भयंकर दीख रहा था, जिसे देखकर अर्जुन व्यथित हुआ।

विराटता के अनुभव के बारे में भी हम ऐसा कह सकते हैं। जिस प्रकार तूफान में घिरा हुआ सागर जब हम देखते हैं तब हमारी आँखों के सामने बहुत दूरतक समंदर ही दिखाई देता है, समंदर के इस खौंफनाक एवं रौद्र रूप को देखक हमारे मन में थोडे से भय एवं उत्तेजना की भावना जागृत होती है। और समंदर के पानी ने पूरी सृष्टि को घेर किया है ऐसा आभास होता है। क्योंकि हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियों की जितनी क्षमता होती है उतना ही हमें अनुभव होता है। किंतु हमारा मन उसके परे जो अमर्यादित समग्र (totality) है उसकी कल्पना कर सकता है। वहीं विराटता का अनुभव होता है।

विराटता या उदात्तता का संबंध पूर्णता से होता है। इस अनंत समाविष्ट का विस्तार अतुलनीय होता है। अनंत का विस्तार प्रत्येक चीज से बड़ा एवं उदात्त होता है। जहां अनिर्बंध, अमर्यादित, प्रचंड प्रकृतिका रूप दिखाई देता है वहीं विराटता या उदात्तता का अनुभव होता है। किंतु कुछ संकल्पनाएँ इतनी बडी, दिव्य या भव्य होती हैं जिसको दृश्य रूप देना संभव नहीं होता,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और ऐसा ही प्रयन्त यदि हम करें तो उसकी प्रचंडता के कारण उस दृश्य रूप का अनुभव करना हमारी इंद्रियोंके लिए कठीन हो जाता है। इसी तरह श्रीकृष्ण का यह दिव्यरूप, विश्वरूप अतुलनीय है और यदि उसकी तुलना करनी हो तो स्वयं उसीसे ही करनी पडेगी। ऐसा ही अनुभव अर्जुन को श्रीकृष्ण का विश्वरूप देखते समय हुआ। अर्जुन ने श्रीकृष्ण का जो विश्वरूप देखा वह रूप आदि, मध्य और अन्त से रहित था। उसकी शक्ति अपार, प्रचंड हैं और उसके असंख्य बाहू एवं असंख्य आँखें थीं, जिनमें चन्द्र और सूर्य दो आँखें हैं। उसका मुख अग्नि के समान देदिप्यमान और प्रकाशमान था। जिसके तेजसे सपूर्ण पृथ्वी तप्त हुई थी। यह जो रूप था उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं था, अर्थात् वह अनंत अमर्यादित था जिसका अनुभव अर्जुन अपनी इंद्रियों द्वारा नहीं ले पा रहा था। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान की थी किंतु फिर भी अर्जुन वह दिव्य रूप अधिक समय तक नहीं देख पाया।

विराटता का दर्शन हर किसीको नहीं हो सकता है। उसके लिए आवश्यक क्षमता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संस्कृति की चरम दशा को प्राप्त करना पड़ता है। अपनी आत्मिक शक्ति को भी उन्नत करना पडता है। साथ ही उसके किए अपनी दृष्टि को भी संस्कारित होना आवश्यक है। विराटता के अनुभव में हम ऐंद्रियता की अपेक्षा, अतींद्रियता को अधिक महत्त्व देते हैं। ऐंद्रिय शक्ति मर्यादित होती है, वह ऐंद्रिय जगत् के बाहर नहीं जा सकती। जिस प्रकार प्रकृति की प्रचंड शक्ति के अनुभव में हम उसकी परिपूर्णता का, समष्टि का एक अंश देखते हैं। समष्टि का अनुभव हमें हो ही नहीं पाता। हम केवल उसकी कल्पना के माध्यम से अप्रत्यक्ष अनुभव तो कर संकते हैं लेकिन प्रत्यक्ष नहीं। किंतु उसके लिए भी विशिष्ट आत्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है जिसका आधार संस्कृति है।

विश्वरूप दर्शन के बारे में भी ऐसे ही कहा जाता है कि मनुष्य अपनी भौतिक ज्ञानेंद्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देख नहीं पाता, उसका कहना सुन नहीं सकता, उसका ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता उसी प्रकार उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की। श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से अर्जुन उस विश्वरूप को देख सके। जिसमें उन्होनें एकही स्थान पर बैठकर वर्तमानकाल, एवं भविष्यकाल की घटनाओंका अनुभव किया। और उस दिव्य दृष्टि के कारण उसे संपूर्ण ब्रह्माण्ड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

याने की समाष्टि के दर्शन का अंथवा उसके अनुभव का सामर्थ्य प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त श्लोकों के अध्ययन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विराटता का आशय भौतिकता को ही विस्तारित करना है और यह विस्तार विवर्त के समान होता है। विवर्त का अर्थ याने जिस प्रकार पानी में पत्थर डालने पर जो गोलाकार वृत्त बनते जाते हैं। ये विवर्त के वलय अस्पष्ट होते जाते हैं। अर्थात् हमारी ज्ञान-कक्षाओं के परे जाते हैं किंतु हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। हमारे मन को इंद्रियों की मर्यादएँ नहीं होती। जिस प्रकार एक छोटे से परदे पर अपनी कल्पना, कुछ तंत्र के और प्रकाश योजना की सहाय्यता से जो एक रूप दिखाया जाता है वह भी एक दृष्टि से हिप्नोटिझम ही है क्योंकि हम छोटेसे परदे पर वह भव्य रूप देखकर भयभीत हो जाते हैं।

भौतिक अर्थात् ऐहिक सुखों के पीछे भागनेवाले को केवल परिमाण की, याने की मात्रा की विराटता दिख सकती हैं, उसके परे वह नहीं देख सकता।

नागपूर विश्वविद्यालय
नागपूर

श्रीमती सुनीति इंगळे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ समीक्षा

गौतम सत्यपाल, समाजदर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ १९९१, पृ. १६४, रु.४०/-

भारत जैसे विशाल देश में अत्यधिक जनसंख्या के होते हुए भी मौलिक चिन्तन के तथा उच्च बौद्धिक ऊहापोह के ग्रंथ भारतीय भाषाओंमें कम ही लिखे जाते हैं। लेकिन शासन यंत्रणाओं के प्रोत्साहन से इस कमी को पूरा करने की कोशिशों के फलस्वरूप कुछ ग्रंथ भारतीय भाषाओंमें प्रकाशित हो रहे हैं। इन्हीं में एक है डॉ. सत्यपाल गौतम का 'समाजदर्शन'। वस्तुतः यह विषय अत्यंत व्यापक एवं संश्लिष्ट है। इस में एकाध पुस्तक लिखने पर अनेकों कमियाँ दिखाना स्वाभाविक एवं सुलभ होगा। अतः विषय-व्यापकता की मर्यादाओंको ध्यान में रखते हुए हमें ऐसी पुस्तकोंपर सोचना है।

सद्यःकालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओंपर सोचने के लिए वैचारिक आधारभूमि का होना अवश्यंभावी है। और मौलिक तत्त्वों, मूल्यों एवं सिद्धान्तोंके विमर्श से ही यह भूमि बन सकती है। भारतीयता के आधुनिक परिवेश में अनेकों समस्याएँ महत्त्वपूर्ण एवं मूलगामी होने पर भी हमें उन में से कुछ चुननी पडती हैं। तदनुसार डॉ. सत्यपाल गौतम ने कुछ समस्याओंका चयन करके उनपर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः हमारी समस्याएँ हमारी अर्थव्यवस्था, मानसिकता और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुडी हुई हैं। जनसंख्या एक ऐसी घटना बन चुकी है जो किसी भी परिवेश को कठीन समस्या में बदल डालती है। फिर भी दार्शनिकता की भूमिका लेने के नाम से हम इन असलियतों से परे जाकर अमूर्त-व्यवसाय में समस्या संचयन के व्यापार में जुटे रहते हैं। वास्तविकता यह है कि इस भूमि के दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं विचारक इस भूमि के उपजाऊपन को देखे बिना ही कम फसल के कारणों की खोज में आसमान के तारे गिनने लग जाते हैं। डॉ. गौतम अपने प्रथम अध्याय में हमारी वास्तविक समस्याओंकी एक सूचि अवश्य बनाते हैं (पृ.१९) लेकिन उनके मूल में जाकर उनपर विचार करने के निमित्त दर्शन की अमूर्त कल्पनाओं, सिद्धान्तों एवं मूल्यों का ऊहापोह करने में मग्न हो जाते हैं। प्रचलित दार्शनिक विधा के अनुसार यह एक स्तुत्य प्रयास है। लेकिन मौलिक चिन्तन की प्रेरणा से प्रेरित विचारक पूछ सकते हैं कि इस विधा से हम क्या पाएँगे ? इस चुनौती का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुकाबला करने की ताक में बैठे विचारकों तथा अध्येताओं का समाधान कठीनहीं लगता है।

अपनी भूमिका को प्रस्तुत करते हुए लेखक कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओंपर अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए समता, स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, लोकतंत्र और सामाजिक न्याय तथा राजनैतिक कर्म इन छः समस्याओं का निरूपण छः अध्यायों में करते हैं। समता का विचार प्रस्तुत करने के लिए लेखक व्यापक संदर्भ लेते हैं जिसमें भारतीय समाज के परंपरागत दृष्टिकोन से लेकर सद्यःकालीन पक्षीय राजनीतिजन्य परिस्थिति तक के मद्दे सम्मिलित हैं। इन समस्याओंसे जुडे जो तत्त्व, वाद या प्रणालियाँ हैं उन के ऐतिहासिक आलेख से अवगत कराते हुए लेखक अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यदापि संदर्भ भारतीय है, करीबन सभी मौलिक कल्पनाएँ या तत्त्व पश्चिमी परंपराप्राप्त होने के कारण पाश्चिमात्य दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही यह विवेचन होता रहता है।

समता की समस्या का विवेचन करते हुए, भारतीय संदर्भ होने के कारण, लेखक को जातिव्यवस्था एवं वर्णव्यवस्था को केंद्र में रखकर उस से उत्पन्न व्यवस्था को विषमता के रूप में स्वीकार करना पडा है। किसी एक व्यवस्था की प्रस्थापना के फलस्वरूप समाज रचना में स्तरीकरण पैदा होना एक बात है और किसी लाभ हेतु अन्यों को वंचित रखने के लिए विषमता का प्रवेश और बात है। शायद इस भेद के महत्त्व को गौर करने का समय आया है। क्योंकि समता यह न तो एक रम्य कविकल्पना है या न ही कोई लुभावना दिवास्वप्न। और समता के स्वीकार के लिए हम व्यवस्था की कीमत चुकाने के लिये भी कितने तैयार हैं ? इस बात पर सोचना जरूरी है। ऐसे प्रश्न लेखक के विवेचनसे मन में अवश्य उठते हैं। फिर भी लेखक का व्यावहारिक उपायोजन के सुझाव का प्रयास विचारणीय एवं प्रयोगशील लगता है।

समता का आशय स्वतंत्रता को समझे बिना अधूरा है। अतः स्वतंत्रता सब से महत्त्वपूर्ण समस्या है जो किसी भी समाज दर्शन का आधार बनती है। विकल्पों की अनुपलब्धिमें चयन के होने की विडंबना के मद्दे नजर रखते हुए लेखक अपना विवेचन आगे बढाते हैं। और स्वतंत्रता के बदलते विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करके 'व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं का विकास करने के लिए खुला' अवसर देने की माँग करते हैं। लेकिन वे इस से जुडी विडंबना से भी ज्ञात कराते हुए बताते हैं कि 'आर्थिक सम्पन्नता, राजनैतिक सत्ता तथा सामाजिक स्वतंत्रता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में आंतरिक संबंध है। और, स्वतंत्रता को खतरा... लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रशासन को नियंत्रित करनेवाले दायित्वहीन नौकरशाही तथा जनसंख्या के बहुमत की नृशंस निरंकुशता से भी हो सकता है।

हमारा देश विभिन्न घटकों के मेल से होने के कारण उसमें अलग-अलग श्रद्धाओं एवं जीवनरीतियों का बहुत्व दिखाई देता है। इन सबको सुख चैन से रहने के लिये हमारे हृदय में काफी जगह होनी जरूरी है। इसी कारण धर्मनिरपेक्षता की समस्या पैनी होती जा रही है। वस्तुतः पश्चिमी समाजों में उठी धर्मनिरपेक्षता की कल्पना और हमारे समाज में उत्पन्न हुई असहिष्णुता की समस्या इन में काफी अंतर है। अतः लेखक भारतीय धर्मनिरपेक्षता के उद्भव को ठीक तरह से प्रस्तुत करने की सफ़ल कोशिश करते हैं। इस संदर्भ में उनके सुझाव व्यावहारिक तौर पर अवश्य ही आकर्षक मालूम होते हैं। लेकिन सहिष्णुता की मानसिकता का विवेचन इस के साथ अगर होता है तो इस समस्या का विवेचन अधिक मूलगामी और उपयोगी साबित होता। हमारी प्रायः सभी समस्याएँ किसी सिद्धान्त का राजनैतिक विद्रूपीकरण का परिणाम होते हुए भी इस संभावना के पीछे की मानसिकता का विश्लेषण अधिक अवश्यंभावी एवं मूलगामी होगा।

समाजवाद का विवेचन करते हुए लेखक औचित्य बरतते हुए उस के ऐतिहासिक एवं व्यामिश्र रूप को प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इस प्रयास में भारतीयता के संदर्भ में समाजवाद का विवेचन उद्बोधक होते होते बचा प्रतीत होता है। भारतीय मानसिकता के समाजवादी चिंतन के आयाम अधिक विस्तृत रूप में स्पष्ट होने की सार्थ अपेक्षा ऐसे ग्रंथ मे हमेशा रहती है।

समाजवाद के साथ हमने अपनाये लोकतांत्रिक परिवेश का विवेचन तुलना में अधिक प्रभावी दिखाई देता है। क्योंकि इस का हमारे समाजजीवन से जो अंतस्संबध है उसे स्पष्ट करने में लेखक कामयाब रह चुके हैं। 'लोकतांत्रिक व्यवस्था के मूल आधार' को 'जनसाधारण के प्रभुत्व' के रूप में दिखा कर उन्होंने अपना विवेचन मूलान्वेषी साबित किया है। इस में भी उपस्थित सामाजिक विडंबनाओंको दिखाने में वे चूकते नहीं हैं। हमारा हर आदर्श कुछ न कुछ विडंबना से ग्रस्त होने के कारण ही सामाजिक न्याय की समस्या हमारे लिए कुछ और ही प्रारूप में उभरती दिखाई देती है। इस विडंबना का रहस्य हमारी स्वार्थमूलक लोलुपता में है। अर्थात् लेखक इस बात को इतने स्पष्ट रूप से दिखाते नहीं है। फिर भी उनका विवेचन परिणामकारक रहा है। विशेषकर हिंसा के संबंध में किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवेचन मार्मिक है।

इस तरह लेखक ने कुछ चुनी हुई समस्याओंका समर्थ विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अपनी पैनी दृष्टि, विद्वत्ता और औचित्य का सही परिचय दिया है। मँजी हुई लेकिन सुबोध भाषा तथा सरल और परिणामकारक शैली में पुस्तक लिखी है। अध्यायोंके परस्पर संबंध के बारे में और अपेक्षा रहती है। फिर भी तार्किक त्रुटियोंसे मुक्त विवेचन का उपयुक्त एवं विचारके लिए प्रवर्तक नमूना इस रूप में पुस्तक विद्यार्थी, शिक्षक तथा विचारकों के लिए अवश्य मूल्यवान साबित होगी।

दर्शनविभाग,
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

सुभाषचंद्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

◎ पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक -संपादकों के निर्णयपर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं।यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक योग एन्टरप्राईझेस, ४२८, मंगलवार पेठ, पुणे-४११०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

विटगेन्स्टीन के दर्शन में दर्शन का स्वरूप, कुछ अनुलग्नक समस्याएँ और समाहार	:	डॉ. अरुण कुमार प्रसाद	१०७
शंकर के दर्शन में कर्म	:	राजदीप सिंह	१२१
रामानुज के दर्शन में "ज्ञान" का स्वरूप (सविषयक और सविशेषत्व के सन्दर्भ में)	:	डॉ. श्रीमती अन्नेकँवर	१२९
क्षणभंगवाद और ज्ञान की समस्या	:	डॉ. शिवनारायण जोशी	१३७
वाक्यार्थ-विचार : भर्तृहरि के सन्दर्भ में	:	डॉ. कुमुद नाथ झा डॉ. निर्मल कुमार तिवारी	१४५
आयुर्वेदीय मौलिक दर्शन	:	आचार्य राजकुमार जैन	१५५
कविधर्म	:	डॉ. दुर्गादत्त पांडेय	१६१
पारम्परिक (भारतीय) शास्त्रों का अन्तःसम्बन्ध और राजशेखर सन्दर्भ - "काव्यमीमांसा" का	:	राममूर्ति त्रिपाठी	१७५
भागवत में रहस्यवाद	:	विजयकुमार शर्मा	१८१
श्रीभगवद्गीता में-उदात्तता	:	श्रीमती सुनीति इंगळे	१९३
ग्रंथ समीक्षा	:	सुभाषचंद्र भेलके	१९९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.